सामयिक प्रकाशन

समाज और इतिहास

नवीन शृंखला

3

जंगल का संघर्ष, 'प्रगतिशील' क़ानून और राज्य

कमल नयन चौबे

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
2013

NMML Occasional Paper

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

© कमल नयन चौबे, 2013
सर्वाधिकार सुरक्षित। लेखक की लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश का दोबारा प्रयोग पुनरोत्पादन किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता। इसमें व्यक्त विचार, अर्थनिर्धारण तथा निष्कर्ष पूर्णतः लेखक के हैं और किसी भी तरह, पूर्णरूपेण अथवा अंशतः, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के विचारों को नहीं दर्शाते।

प्रकाशक

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली–110011
ई.मेल : ddnehrumemorial@gmail.com

आईएसबीएन : 81-87614-96-X

मूल्य रूपये 100/- ; यूएस $ 10

पृष्ठ सज्जा और मुद्रण : ए.डी. प्रिंट स्टूडिओ, 1749 बी/6, गोविन्द पुरी, एक्सटेंशन कालकाजी, नई दिल्ली–110019. ई.मेल : studio.adprint@gmail.com

जंगल का संघर्ष, 'प्रगतिशील' क़ानून और राज्य

[अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासी (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम 2006 के अनुभव की समीक्षा]

कमल नयन चौबे*

अनुसूचित जनजाति तथा अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम 2006 को, जिसे अमूमन वन अधिकार क़ानून भी कहा जाता है, एक 'प्रगतिशील' क़ानून का दर्ज़ा दिया जाता है। इसका कारण यह है कि खुद जंगल पर निर्भर समुदायों ने इस क़ानून के लिए ज़ोरदार संघर्ष किया और इस क़ानून के माध्यम से उन्हें अपने जंगल की ज़मीन और उसके संसाधनों पर अधिकार देने का प्रावधान किया गया है। बहुत से अध्ययनों से यह बात सामने आई है कि उत्तर–उदारीकरण दौर में जंगल के संसाधनों को निजी कंपनियों को देने की नीति को बढ़ावा दिया गया है। झारखंड, छत्तीसगढ़ और ओड़िशा जैसे राज्यों में राज्य सरकारों ने राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय निजी कंपनियों के साथ सैकड़ों समझौता–पत्रों पर हस्ताक्षर किए हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ सरकारें जी–जान लगाकर इन कंपनियों की मदद कर रही हैं और स्थानीय समुदायों के प्रतिरोध का दमन कर रही हैं।[1] ऐसे में, बहुत बार यह तर्क दिया जाता है कि वन अधिकार क़ानून दरअसल, इस पूरी प्रक्रिया को ज़्यादा बेहतर बनाने का एक साधन है।[2] प्रस्तुत शोध–पत्र में वन अधिकार क़ानून के अनुभव के अध्ययन द्वारा इस बात की पड़ताल करने की कोशिश की गई है कि क्या जंगल और उसके संसाधनों पर हकदारी के संदर्भ में इस क़ानून ने स्थानीय

*कमल नयन चौबे, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय में कनिष्ठ फेलो हैं।

[1] ऐसे कुछ उदाहरणों के लिए देखें, नवलखा (2008); (2012); इंडियन सोशल ऐक्शन फोरम (2009); पैडेल और दास (2010); सीडीआरओ (2011); (2012).

[2] मसलन देखें सव्यसाची (2010); (2011).

समुदायों को पहले की तुलना में ज़्यादा सशक्त और स्वायत्त बनाया है, या यह इन समुदायों पर राज्य के नियंत्रण को बढ़ाने का एक साधन साबित हुआ है?

यह शोध–पत्र मुख्य रूप से सात भागों में बँटा हुआ है।[3] पहले भाग में जंगल की ज़मीन और इसके संसाधनों पर स्थानीय समुदायों के अधिकार की पृष्ठभूमि और वन अधिकार क़ानून के बनने की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। दूसरे भाग में इस क़ानून की अधिसूचना ज़ारी होने के बाद के घटनाक्रम और इसमें दिए गए व्यक्तिगत और सामुदायिक वन अधिकारों के लागू होने की स्थिति का मूल्यांकन किया गया है। तीसरे भाग में, संरक्षित क्षेत्रों में क़ानून के अनुभव का विश्लेषण किया गया है। चौथे भाग में विकास योजनाओं के संदर्भ में इस क़ानून की भूमिका और इसके उपयोग के बारे में कुछ उदाहरणों के माध्यम से विचार किया गया है। शोध–पत्र का पाँचवा भाग महिलाओं पर इस क़ानून के प्रभाव का मूल्यांकन करता है। छठे भाग में सैद्धांतिक स्तर पर वन अधिकार क़ानून और इसके अनुभवों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके लिए मैंने 'मार्जिनल सोसायटी' या 'हाशिया समाज' की अवधारणा प्रस्तावित की है। शोध–पत्र का सातवाँ भाग निष्कर्ष से संबंधित है।

I
जंगल, स्थानीय समुदाय और क़ानून : वन अधिकार क़ानून की पृष्ठभूमि और संघर्ष

शोध–पत्र के इस भाग में वन अधिकार क़ानून की पृष्ठभूमि और इसके लिए चले बहस और आंदोलन से संबंधित विभिन्न पहलुओं की व्याख्या की गई है। यह भाग मुख्य रूप से दो उपभागों में बँटा है। पहले उपभाग में औपनिवेशिक दौर से लेकर वन अधिकार क़ानून के निर्माण तक के मुख्य घटनाक्रमों की विवेचना की गई है। इसमें यह

[3] इस शोध–पत्र में मैंने अपने फील्ड–अध्ययन के साथ–ही–साथ सरकारी रिपोर्टों, नागरिक समाज संगठन और अन्य शोध–कर्त्ताओं के अध्ययनों का प्रयोग करते हुए, वन अधिकार क़ानून के लागू होने की प्रक्रिया का विश्लेषण और समीक्षा करने का प्रयास किया है।

स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि वनों और वन–निवासियों के संदर्भ में औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक दौर में क्या–क्या बदलाव हुए और किन पहलूओं में निरन्तरता रही। दूसरे उपभाग में वन अधिकार क़ानून के बनने की प्रक्रिया, इससे जुड़ी बहस और हर स्तर पर होने वाले बदलावों का विश्लेषण किया गया है।

1. औपनिवेशिक और उत्तर–औपिनिवेशिक दौर में वन और वन–निवासी : निरंतरता और बदलाव

औपनिवेशिक शासन ने भारत के जंगलों और इसके आस–पास रहने वाले समुदायों को गहरे रूप से प्रभावित किया। अंग्रेज़ों से पहले शासक जंगलों में कभी–कभार ही हस्तक्षेप करते थे, लेकिन औपनिवेशिक दौर में यह हस्तक्षेप काफ़ी बढ़ गया। इस दौर में दो स्तरीय प्रक्रिया चली। पहला, अंग्रेज़ों ने जंगलों का जमकर दोहन किया। अमूमन इतिहासकारों में इस बात पर सहमति है कि 1850 के दशक के बाद अंग्रेज़ों ने अपनी वन नीति में मुख्य रूप से अपने साम्राज्यवादी हितों को ही बढ़ावा दिया।[4] इसके लिए उन्होंने 'एमिनेंट डोमेन' के सिद्धांत का सहारा लिया।[5] जंगलों के संसाधनों के दोहन के मकसद से ही 1864 में वन विभाग की स्थापना की गई। इसके बाद 1865 में *वन अधिनियम* बनाया गया। इस अधिनियम की कमियों को दूर करने और इसे ज़्यादा प्रभावकारी बनाने के लिए 1878 का *वन अधिनियम* लाया गया। बाद में, इसमें स्पष्टता लाने के लिए 1927 का *वन अधिनियम* बनाया गया। इसकी 84 धाराओं में से 81 धाराएँ 1878 के क़ानून से ही ली गई थीं। इन क़ानूनों द्वारा अंग्रेज़ों ने जंगल और इसके संसाधनों पर अपना प्रभुत्व

[4] ग्रोव, दामोदरन और सांगवान (1998): 8–9.

[5] यह माना जाता है कि आधुनिक समय में ह्युगो ग्रोटियस ने 'एमिनेंट डोमेन' (या प्रभुसत्ता) का सिद्धांत बनाया। इसके अनुसार, संप्रभु दो शर्तें पूरी करके अपने क्षेत्र में आने वाली ज़मीन या इसके संसाधन पर अपना स्वामित्व घोषित कर सकता है : पहला, जिन स्थानों पर व्यक्तिगत फ़ायदे की जगह सार्वजनिक उद्देश्य ज़्यादा बड़ा हो, और दूसरा, जहाँ राष्ट्रीय हित व्यक्तिगत या सामुदायिक हित से ज़्यादा बड़ा हो। औपनिवेशिक दौर में बने 1878 और 1927 के *वन अधिनियम* और 1894 में *भूमि अधिग्रहण अधिनियम* जैसे क़ानून का प्रयोग किया गया। स्वतंत्र भारत में 1927 का *वन अधिनियम* प्रभावकारी है। दरअसल राज्य ने 'एमिनेंट डोमेन' के सिद्धांत का प्रयोग अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए किया। देखें, सिंह (1986) सक्सेना; (2008) : 351–410; *रामानाथन* (2004); (2008).

स्थापित करने की कोशिश की।[6] 1878 के *वन अधिनियम* के अनुसार यदि कोई वन–निवासी जंगल की ज़मीन पर अपने संपत्ति अधिकारों को साबित करने के लिए कोई लिखित दस्तावेज़ पेश नहीं करता है, तो वहाँ से उसके अधिकार खत्म हो जाएँगे। ऐसे लोगों को जंगल की ज़मीन का 'अतिक्रमक' घोषित कर दिया गया। इन लोगों के सारे 'अधिकार' 'छूट' में बदल दिए गए और ये अपने क्षेत्र के वन अधिकारी की मनमर्ज़ी पर निर्भर हो गए।[7] लेकिन दूसरे स्तर पर अंग्रेज़ों ने जनजातियों की अलग श्रेणी बनाई और इनके लिए अलग क़ानून बनाए। मसलन, 1874 में द *शेड्युल्ड डिस्ट्रिक्ट ऐक्ट* बनाया गया। इसी तरह, आदिवासी बहुल ज़िलों को 'बहिष्कृत' (उत्तर–पूर्व के क्षेत्र) और 'आंशिक रूप से बहिष्कृत' (शेष भारत के आदिवासी बहुल क्षेत्र) में बाँटा गया। यद्यपि इस व्यवस्था में 'जनजातियों की भलाई' के तर्क का प्रयोग किया गया, लेकिन दरअसल, इससे अंग्रेजों को इन क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण कायम रखने में मदद मिली। यह भी उल्लेखनीय है कि अंग्रेजों के दखल के ख़िलाफ़ औपनिवेशिक दौर में आदिवासियों ने बहुत ज़्यादा विद्रोह किए।[8] इन विद्रोहों के कारण ही अंग्रेज़ों को इन इलाक़ों के लिए कई प्रगतिशील क़ानून बनाने पड़े। 1908 में बना *छोटानागपुर टिनेन्सी ऐक्ट* ऐसे ही क़ानून का उदाहरण है।[9]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दो सामानांतर प्रक्रियाएँ चलीं। संविधान में छठी अनुसूची के अंतर्गत उत्तर–पूर्व के राज्यों के लिए और पाँचवीं अनुसूची के अंतर्गत पूरे देश के जनजातीय क्षेत्रों के लिए विशेष प्रावधान किए गए[10] और सरकार ने भी इनके लिए कई कार्यक्रम शुरू किए। लेकिन इसके साथ ही 1927 के वन अधिनियम और इसके अंतर्गत

[6] इन क़ानूनों के बनने की पृष्ठभूमि और इस दौरान हुए वाद–विवाद और इनके प्रावधानों के संदर्भ में अब बहुत ही व्यापक सामग्री मौजूद है। इस तरह के कुछ कामों के लिए देखें, गुहा (1983ए) (1983बी) सिंह; (1986) गुहा (1990); गाडगिल और गुहा (1992) : 123–134, शिवारामाकृष्णन (1995); रंगराजन (1997); पाठक (2002).

[7] सिंह (1986).

[8] इस तरह के कुछ विद्रोहों के बारे में जानकारी के लिए देखें अर्नाल्ड (1982) : 88–142; गुहा (1989); गुहा और गाडगिल (1989); गाडगिल और गुहा (1992); सुंदर (1997) : 135–155;

[9] सुंदर (2009) : 5.

[10] सव्यसाची (1998); शर्मा (2004).

राज्य को मिले 'एमिनेंट डोमेन' का अधिकार भी कायम रखा गया।[11] देश के दूसरे भागों में भूमि सुधार कार्यक्रम लागू किए गए, लेकिन जंगल में या जंगल की ज़मीन पर बसे गाँवों में इस तरह के भूमि सुधार क़ानून लागू करने की कोशिश नहीं की गई। इसके अलावा, 1952 की वन नीति में राष्ट्रीय विकास के लिए जंगलों के उपयोग पर ज़ोर दिया गया। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया कि कोई गाँव सिर्फ़ इसलिए जंगलों के संसाधनों पर अपना दावा नहीं कर सकता है क्योंकि वह वहाँ बसा हुआ है।[12]

बहरहाल, संवैधानिक प्रावधानों के कारण छठी अनुसूची के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों में स्वायत्त ज़िला परिषदों की व्यवस्था की गई और इन्हें कुछ स्वायत्तता मिली। लेकिन पाँचवी अनुसूची के क्षेत्रों की स्थिति में कोई ख़ास बदलाव नहीं हुआ। इसके प्रावधानों को गंभीरता से लागू करने की कोशिश नहीं की गई।[13] असल में, उत्तर–औपनिवेशिक दौर में राज्य की नीतियों ने वन निवासी समुदायों की परेशानी काफ़ी बढ़ा दी। पहली बात तो यह हुई कि बड़े पैमाने पर नए जंगल बनाए गए। लेकिन इन क्षेत्रों में लोगों के अधिकार तय नहीं किए गए। दूसरा, वन क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों की गतिविधियों पर वन विभाग का नियंत्रण बहुत ज़्यादा बढ़ गया। तीसरा, राष्ट्रीय विकास के नाम पर जंगलों का अंधाधुंध दोहन किया गया। 'वैज्ञानिक वानिकी' को अपनाकर मिश्रित जंगलों को साफ़ किया गया और उसकी जगह उद्योगों के लिए उपयोगी पेड़ लगाए गए। इससे जंगल और वन्य जीव – दोनों को ही बहुत ज़्यादा नुकसान का सामना करना पड़ा। चौथा, जंगलों और वन्य जीवों की स्थिति बेहतर बनाने के लिए 1970 के बाद के वर्षों में कई ऐसे क़ानून बने, जिनके कारण वन–निवासियों की जिंदगी पर राज्य और क़ानून का नियंत्रण और भी सख़्त हो गया।[14] 1972 में *वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम* पारित हुआ। इसमें राज्यों को संरक्षित क्षेत्र अर्थात् नैशनल

[11] संविधान के अनुच्छेद 31ए की उप–धारा 2ए (iii) में वनों से संबंधित क़ानूनों को स्वतंत्र भारत में भी कायम रखा गया है। देखें भारत का संविधान (2008): 20.

[12] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (1952); झा (1992): 29–73.

[13] शर्मा (2004): 97–98; शर्मा (2001).

[14] इन सभी आयामों के बारे में ज़्यादा विस्तार से जानकारी के लिए देखें, कैम्पेन फॉर सर्वाइवल ऐंड डिग्निटी (2004) : 3–26; पाठक (1994); गाडगिल और गुहा (1992); (1995).

पार्क और अभयारण्य बनाने का अधिकार दिया गया। ख़ासतौर पर नैशनल पार्कों में स्थानीय समुदायों की गतिविधियों पर पाबंदी लगाते हुए, उन्हें दूसरी जगह बसाने का प्रावधान किया गया। 1980 में *वन संरक्षण अधिनियम* पारित हुआ। इसमें केन्द्र सरकार की इज़ाज़त के बगैर जंगल की ज़मीन के गैर–वनीय उपयोग के लिए 'डायवर्ज़न' पर पाबंदी लगाई गई।[15] इन क़ानूनों की मदद से स्थानीय समुदायों की गतिविधियों पर तो पाबंदी लगाई गई, लेकिन क़ानून के प्रावधानों को सही तरीके से लागू नहीं किया गया। मसलन, नैशनल पार्कों से बहुत कम लोगों का दूसरी जगहों पर पुनर्वास किया गया।[16] इसके अलावा, औद्योगिक हितों को पूरा करने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर जंगल की ज़मीन का 'डायवर्ज़न' किया गया।[17]

1970 के दशक से, ख़ासतौर पर इमरजेंसी के बाद, देश के दूसरे भागों की तरह ही इन क्षेत्रों में भी लोगों के भीतर राजनीतिक जागरूकता बढ़ी। स्थानीय स्तर पर बहुत से संगठनों का उभार हुआ और उन्होंने राज्य द्वारा ऊपर से थोपे गए 'विकास के मॉडल' का विरोध करना शुरू किया। ऐसे बहुत से आंदोलनों में पर्यावरण की सुरक्षा और संसाधनों पर स्थानीय समूहों के हक़ की माँग– दोनों पर ही ज़ोर दिया गया। 1973 में शुरू हुआ 'चिपको आंदोलन' या 1980 के दशक का 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' इसी तरह के प्रतिरोध के उदाहरण थे।[18] रजनी कोठारी ने इस तरह की गतिविधियों और आंदोलनों के लिए 'गैर–दलीय राजनीतिक प्रक्रिया' शब्द का इस्तेमाल किया है।[19] इसके अलावा, 1980 के दशक में इन क्षेत्रों में माओवादियों की गतिविधियाँ भी बढ़ीं। इसने

[15] देखें गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (1972); गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (1980).

[16] कोठारी (2005).

[17] मसलन, 2004 में पर्यावरण एवं वन मंत्री ने संसद में यह सूचना दी कि 1980 के बाद 11, 282 विकास योजनाओं के लिए 9.8 लाख हेक्टेयर वन भूमि को सामान्य भूमि में बदला गया। इसी तरह, 1980 के बाद तकरीबन 1.6 लाख हेक्टेयर जंगल की ज़मीन को सिर्फ खनन कार्यों के लिए सामान्य भूमि में बदला गया। देखें कृष्णास्वामी (2005): 1400.

[18] इस तरह के आंदोलनों के बारे में बहुत ज़्यादा अध्ययन हुए हैं। इस तरह के कुछ अध्ययनों के लिए देखें इस संदर्भ में देखें, बहुगुणा (1983); (1987); शिवा और बंद्योपाध्याय (1986); गुहा (1987): 39–41; गुहा (1989); बाविस्कर (1993).

[19] कोठारी (1984).

भी लोगों की राजनीतिक चेतना बढ़ाने में गंभीर भूमिका निभाई।[20] इन सब कारकों का प्रभाव भारत की वन नीति पर भी दिखा। 1986 में भारत सरकार द्वारा घोषित की गई वन नीति में एक बुनियादी बदलाव आया। अब जंगलों के प्रबंधन में स्थानीय समुदायों को भूमिका देने की बात स्वीकार की गई। बाद में, संयुक्त वन प्रबंधन कार्यक्रम की शुरूआत हुई और पाँचवी अनुसूची के क्षेत्रों में आदिवासियों ने अपने पारंपरिक संसाधनों पर क़ानूनी मान्यता के लिए संघर्ष किया, जिसका नतीजा *पंचायत (अनुसूचित क्षेत्र विस्तार) अधिनियम, 1996* (या पेसा) के रूप में सामने आया। लेकिन सरकार ने जंगल में रहने वाले लोगों की 'अतिक्रमक' की स्थिति या उनकी अधिकारहीन स्थिति को खत्म करने की कोई कोशिश नहीं की। सिर्फ़ कभी–कभार चुनावों के समय कुछ लोगों के 'अतिक्रमण' का नियमितिकरण कर दिया जाता था।[21] इसके अलावा, 'विकास' के कारण होने वाले विस्थापन के सबसे ज़्यादा शिकार आदिवासी ही हुए।[22] बहुत से मामलों में किसी समुचित पुनर्वास के अभाव में उन्हें मज़बूरन 'अतिक्रमक' के रूप में जंगल की ज़मीन पर बसना पड़ा। हालांकि 1990 में सरकार ने इस समस्या को हल करने के लिए एक सर्कुलर ज़ारी किया था, लेकिन उसे लागू नहीं किया गया।[23] स्पष्टतः जंगल या इसके नजदीक रहने वाले लोग पूरी तरह से वन विभाग की मर्ज़ी पर निर्भर रहने के लिए मज़बूर थे।

2. **वन अधिकार क़ानून : विवाद, बहस, और संघर्ष**

2002 में गोदावर्मन केस में सर्वोच्च न्यायालय के एक आदेश की गलत व्याख्या करके वन विभाग ने हज़ारों वन निवासियों के घर उजाड़ दिए। इस घटना ने वन क़ानून में व्यापक बदलाव के लिए चलने वाले आंदोलनों के लिए तात्कालिक कारण की भूमिका अदा की।[24] इस घटना के कारण जंगल की ज़मीन और इसके संसाधनों पर आदिवासियों के

[20] जंगल और इससे सटे क्षेत्रों में माओवादियों की शुरूआती गतिविधियों की जानकारी के लिए देखें शंकर (1999); पंडिता (2011); नवलखा (2012).

[21] कुलकर्णी (1987): 2143–48; पाठक (1994): 93–94.

[22] फर्नांडिस और परांजपे (1997).

[23] सरीन (2005).

[24] वही : 2132; चौबे (2013ए.)

अधिकारों को मान्यता देने की माँग ने बहुत जोर पकड़ा। 2004 के लोकसभा चुनावों में सभी प्रमुख राजनीतिक दलों ने आदिवासियों को जंगल की ज़मीन और उसके संसाधनों पर अधिकार देने का वायदा किया। चुनावों के बाद संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन या (यूपीए) की सरकार ने आदिवासियों के अधिकारों को मान्यता देने के लिए क़ानून बनाने की प्रक्रिया शुरू की।[25]

जनवरी, 2005 को प्रधानमंत्री ने *जनजातीय मामलों के मंत्रालय* को यह निर्देश दिया कि वह जंगल की ज़मीन पर आदिवासियों के अधिकार के संबंध में एक विधेयक तैयार करे। विधेयक बनाने की प्रक्रिया में आदिवासी मामलों से जुड़े विद्वान और कार्यकर्त्ता भी जुड़े हुए थे। अप्रैल 2005 में विधेयक के पहले प्रारूप को विचार–विमर्श के लिए ज़ारी किया गया। इसे 'अनुसूचित जनजाति (वन अधिकारों की मान्यता) विधेयक, 2005' शीर्षक दिया गया।[26] इसके उद्देश्यों में यह स्पष्ट किया गया कि यह औपनिवेशिक काल और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जनजातियों के साथ हुए ऐतिहासिक अन्याय को दूर करना चाहता है; और यह जंगल में रहने वाली जनजातियों और जंगलों के बीच सहजीवी संबंधों को मान्यता देता है।[27] इसमें यह प्रस्तावित किया गया कि वन निवासी अनुसूचित जनजातियों के हर न्यूक्लीयर परिवार को जंगल की उसकी 'अतिक्रमण' वाली ज़मीन में से 2.5 हेक्टयर ज़मीन का पट्टा दिया जाएगा और यह पट्टा पति–पत्नी दोनों के नाम से होगा। इसके अलावा, इन लोगों को लघु वनोपजों और जंगल के संसाधनों पर स्वामित्व का अधिकार भी दिया गया। इसमें वन गाँवों को राजस्व गाँवों में बदलने का प्रावधान भी किया गया। साथ ही, इसमें अधिकार तय करने का 'कट ऑफ़ डेट' 24 अक्टूबर 1980 रखा गया। अर्थात् अधिकारों का दावा करने के लिए हर व्यक्ति को यह साबित करना था कि वह इस तारीख से पहले से उस ज़मीन पर रह रहा है। इसमें इकोलॉज़ी या वन्य जीवों की सुरक्षा के लिए भी प्रावधान किए गए।[28]

---

[25] क़ानून बनने की प्रक्रिया की पृष्ठभूमि और वाद–विवाद की विस्तृत समीक्षा के लिए देखें चौबे (2013ए); चौबे (सद्यप्रकाशित): अध्याय 3.

[26] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2005ए).

[27] वही.

[28] वही.

अप्रैल 2005 में जनजातीय मामलों के मंत्रालय द्वारा इस विधेयक को सार्वजनिक विचार–विमर्श के लिये जारी करने के बाद इस पर तीखा वाद–विवाद शुरू हो गया। संरक्षणवादियों के एक तबक़े ने इसे जंगल और जंगली जीवों के लिए बहुत ही खतरनाक माना। इनके अनुसार, जंगली जानवरों को बचाने के लिए ज़रूरी है कि उन्हें मानवीय हस्तक्षेप से दूर रखा जाए।[29] दूसरे स्तर पर, आदिवासी संगठनों ने यह तर्क दिया कि वन निवासियों ने ही जंगल और जंगली जीवों की रक्षा की है, इसलिए उन्हें अधिकार दिए जाने से वन्य जीवों का नुकसान होने की बात पूरी तरह गलत है।[30] आदिवासी संगठनों और अकादमिक स्तर पर चलने वाले वाद–विवाद में इस विधेयक में कई संशोधन करने की माँग भी की गई। अन्य बातों के अलावा इसमें मुख्य रूप से चार माँगों पर बल दिया गया : पहला, क़ानून के दायरे में गैर–अनुसूचित जनजाति वनवासी समुदायों को भी शामिल किया जाए; दूसरा, अधिकारों को मान्यता देने की आख़िरी तारीख या 'कट ऑफ़ डेट' को 1980 रखना सरासर अव्यवहारिक है, इसलिए इसे आगे बढ़ाया जाना चाहिए। तीसरा, अधिकारों को तय करने की प्रक्रिया में ग्राम–सभा को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। चौथा, गाँवों की परिभाषा पेसा में दी गई परिभाषा के अनुसार होनी चाहिए।[31]

जंगल में आदिवासी समूहों के हक़ के लिए इस तरह के क़ानून की माँग काफ़ी पुरानी थी। 2002 की घटना के बाद आदिवासी संगठनों ने ऐसे क़ानून की माँग के पक्ष मे लोगों को गोलबंद करना शुरू कर दिया था। इन संगठनों ने अप्रैल 2005 में विधेयक का प्रारूप सामने आने के बाद ज़्यादा व्यापक और व्यवस्थित आंदोलन शुरू किया। इसमें कई स्तरों पर विभिन्न संगठनों ने हिस्सेदारी की। पहला, 'इज़्ज़त से जीने का अधिकार अभियान' (कैम्पेन फॉर सर्वाइवल ऐंड डिग्निटी), क़ानून के लिए चलने वाले आंदोलन के राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में सामने आया। इससे बहुत से राज्य स्तर पर काम करने वाले आदिवासी संगठन जुड़े

[29] मसलन, देखें मधुसूदन (2005): 4893–95; करांत और भार्गव (2005): 60; जयकृष्णन (2005): 23; गोयनका (2005): 36.

[30] कोठारी (2005): 66.

[31] देखें, भाटिया (2005); मुंशी (2005); कृष्णस्वामी (2005). भाटिया, सुंदर और खाखा (2005).

हुए थे। फिर, ये राज्य स्तरीय संगठन भी अपने राज्य के कई अन्य संगठनों से जुड़े हुए थे। दूसरा, बहुत से संगठनों ने स्वतंत्र रूप से काम किया। इन्होंने स्थानीय स्तर पर आदिवासियों को विधेयक के पक्ष में गोलबंद करने की कोशिश की। मसलन, एकता परिषद और राष्ट्रीय वन जन श्रमजीवी मंच इस तरह के संगठनों के उदाहरण हैं। राष्ट्रीय वनजन श्रमजीवी मंच ने कई दफा 'कैम्पेन' के साथ मिलकर और कई बार स्वतंत्र रूप से इस क़ानून के पक्ष मे आंदोलन चलाया।[32] तीसरा, इस तरह के आंदोलनों ने संसदीय राजनीति से जुड़े दलों के कार्यकर्ताओं को भी इस विधेयक का समर्थन करने के लिए प्रेरित किया। वामपंथी दलों ने विधेयक में आदिवासी संगठनों द्वारा सुझाए गए संशोधनों का समर्थन किया।[33]

विधेयक के पक्ष में चलने वाले आंदोलनों और वामपंथी दलों के दबाव के कारण मज़बूर होकर यूपीए सरकार ने 13 दिसम्बर 2005 को संसद में यह विधेयक पेश किया। इसमें विधेयक के शुरूआती मसौदे में थोड़ा बदलाव किया गया। इसमें संरक्षणवादियों की चिंता को दूर करने के लिए 'मुख्य क्षेत्र' की अवधारणा शामिल की गई। इसमें संरक्षित क्षेत्रों के वन्य जीवों के लिए महत्त्वपूर्ण 'मुख्य क्षेत्र' से लोगों के दूसरी जगहों पर पुनर्वास का प्रावधान किया गया था।[34] लेकिन इसमें आदिवासी आंदोलनों द्वारा सुझाए गए किसी संशोधन को शामिल नहीं किया गया था। विधेयक की विवादपूर्ण स्थिति और दूरगामी प्रभाव को देखते हुए सरकार ने इसे लोकसभा में पेश करने के बाद संयुक्त संसदीय समिति या (जेपीसी) को सौंप दिया। जेपीसी ने मई 2006 में अपनी रिपोर्ट पेश की। इसने अपनी सर्वसम्मत रिपोर्ट में आदिवासी आंदोलनों की ओर से सामने आई तक़रीबन सभी प्रमुख माँगों को स्वीकार कर लिया।[35] इसने विधेयक में निम्नलिखित प्रमुख बदलावों की सिफारिश की : पहला, इस क़ानून के दायरे में गैर–अनुसूचित जनजाति वनवासी लोगों को भी शामिल किया जाना चाहिए। लेकिन उनके लिए यह शर्त रखी गई कि वे उस ज़मीन पर पिछली तीन पीढ़ियों से रह रहे हों। दूसरा,

[32] चौबे (सद्यप्रकाशित) अध्याय 3.

[33] वही.

[34] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2005बी), धारा 4 (1): 4.

[35] चौबे (सद्यप्रकाशित) : अध्याय 3.

अनुसूचित जनजातियों के अधिकारों को मान्यता देने की आख़िरी तारीख या 'कट ऑफ़ डेट' को बढ़ाकर 13 दिसम्बर 2005 किया जाना चाहिए तीसरा, इसने अधिकारों को तय करने में ग्राम सभा को आख़िरी प्राधिकार दिया और पेसा क़ानून में दी गई गाँव की परिभाषा को स्वीकार किया; चौथा, इसने आदिवासी लोगों को दी जाने वाली ज़मीन पर किसी भी तरह की अधिकतम सीमा नहीं लगाई। पाँचवा, इसने संरक्षित क्षेत्रों के लिए 'मुख्य क्षेत्र' के बजाय 'क्रिटिकल वाइल्डलाइफ हैबिटेट' (सी. डब्ल्यू. एच.) बनाने की सिफ़ारिश की। 'मुख्य क्षेत्र' की अवधारणा की तरह ही यहाँ से भी लोगों को हटाया जा सकता था, लेकिन इस क्षेत्र को तय करने की प्रक्रिया ज़्यादा लोकतांत्रिक और *सहभागी* बनाई गई। इसके अलावा, जेपीसी ने विधेयक में एक नई धारा जोड़ते हुए प्रावधान किया कि सरकार स्थानीय समुदायों की सहमति और स्वीकृति से ही ज़मीन का अधिग्रहण या स्थानांतरण कर सकती है।[36] लेकिन जेपीसी की सिफ़ारिशों में 1927 के *वन अधिनियम* की सर्वोच्चता को ख़त्म करने का उल्लेख नहीं किया गया। इसकी सिफ़ारिशों में संरक्षणवादियों की चिंताओं को महत्त्व नहीं दिया गया, इसलिए उन्होंने जेपीसी की सिफ़ारिशों की आलोचना की।[37] बहरहाल, इसकी सिफ़ारिशों ने इस विधेयक की राजनीतिक वैधता को बढ़ाया, क्योंकि इसमें सभी प्रमुख राजनीतिक दलों और संसद के दोनों सदनों के सदस्य शामिल थे।

सरकार ने शुरूआत में जेपीसी की रिपोर्ट पर कोई स्पष्ट रवैया नहीं अपनाया। लेकिन व्यापक जन आंदोलन और राजनीतिक दलों के दबाव के कारण सरकार को इसे संसद में पेश करना पड़ा। 15 दिसम्बर को लोकसभा और 17 दिसम्बर को राज्यसभा ने यह क़ानून पारित कर दिया और 29 दिसम्बर को इस पर राष्ट्रपति ने दस्तखत कर दिए।[38] आदिवासी संगठनों ने इसे एक महत्त्वपूर्ण जीत के रूप में माना। लेकिन उन्होंने संसद से पारित अधिनियम से नाख़ुशी भी जाहिर की क्योंकि इसमें जेपीसी रिपोर्ट के कई प्रावधानों को हटा दिया गया था। मसलन, पहला, इसमें जेपीसी की रिपोर्ट के विपरीत हर न्यूक्लीयर परिवार के लिए ज़मीन की मात्रा 4 हेक्टेयर तय की गई। दूसरा, अधिकारों को

[36] विस्तार के लिए देखें, जेपीसी की रिपोर्ट (2006).

[37] कोठारी (2006): 12.

[38] प्रसाद (2007): 4.

तय करने की प्रक्रिया में ग्राम सभा को आख़िरी प्राधिकार नहीं माना गया। इसी तरह, सिर्फ़ पाँचवी अनुसूची के क्षेत्र के गाँवों के लिए ही पेसा क़ानून के गाँव की परिभाषा को स्वीकार किया गया। तीसरा, गैर अनुसूचित जनजाति लोगों के लिए यह प्रावधान किया गया कि उन्हें यह साबित करना होगा कि वे जिस ज़मीन पर पट्टे की माँग कर रहे हैं, उस पर वे पिछले 75 सालों से रह रहे हैं। चौथा, इसने 1927 के *वन अधिनियम* के प्रभाव को ख़त्म नहीं किया। दूसरी ओर, संरक्षणवादियों ने इस क़ानून के ख़िलाफ़ अपना पुराना रूख कायम रखते हुए इसकी आलोचना की। संरक्षणवादियों की आलोचना के कारण ही इसे लंबे समय तक अधिसूचित (या नोटिफाई) नहीं किया गया। आख़िरकार आदिवासी संगठनों के आंदोलन और वामपंथी दलों के दबाव के कारण 1 जनवरी 2008 को इस क़ानून की अधिसूचना ज़ारी की गई।[39]

स्पष्टतौर पर, हम यह देख सकते हैं कि आदिवासी संगठनों ने अपनी गोलबंदी के माध्यम से न सिर्फ़ राज्य को संसद से वन अधिकार क़ानून पारित कराने पर मज़बूर किया, बल्कि इन्होंने इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण बदलाव हासिल करने में भी सफलता पाई। मसलन, विधेयक का पहला प्रारूप सिर्फ़ अनुसूचित जनजातियों से संबंधित था; संसद से पारित क़ानून में 'अन्य पारंपरिक वन–निवासियों' के रूप में एक नई श्रेणी को शामिल किया गया। इसी तरह, पहले प्रारूप में 'कट ऑफ़ डेट' 1980 था और हर न्यूक्लीयर परिवार के लिए 2.5 हेक्टेयर ज़मीन का पट्टा देने का प्रावधान था; लेकिन संसद से पारित क़ानून में 'कट ऑफ़ डेट' 13 दिसम्बर 2005 हो गया और हर न्यूक्लीयर परिवार को अधिकतम 4 हेक्टेयर ज़मीन का पट्टा देने का प्रावधान किया गया।[40] लेकिन यह भी सच है कि राज्य ने उनकी सभी माँगों को स्वीकार नहीं किया। क़ानून में कई ऐसे प्रावधान हैं जो राज्य के दख़ल और नियंत्रण को बहुत ज़्यादा बढ़ा सकते हैं। ख़ासतौर पर इस संदर्भ में ऊपर वर्णित 'अन्य पारंपरिक वन निवासियों' से संबंधित प्रावधान का उल्लेख किया जा सकता है। अगर इस श्रेणी में आने वाले परिवार यह साबित नहीं कर पाते हैं कि वे एक स्थान पर तीन पीढ़ियों यानी 75 सालों से रह रहे हैं, तो उन्हें इस क़ानून के तहत अधिकार नहीं मिलेगा। उन्हें अपनी ज़मीन से बेदख़ल भी होना पड़ सकता है।

[39] चौबे (सद्यप्रकाशित) अध्याय 3.

[40] वही.

फिर भी, इस बात में कोई संदेह नहीं है कि वन अधिकार क़ानून ने जंगल की ज़मीन और संसाधनों पर स्थानीय समुदायों के अधिकार की एक व्यापक रूपरेखा प्रस्तुत की। इसमें वन निवासियों को व्यक्तिगत और सामूहिक या सामुदायिक वन अधिकार दिए जाने का प्रावधान है। व्यक्तिगत वन अधिकार के अंतर्गत ज़मीन पर अधिकार का नियमितिकरण या (रेग्युलराइजेशन) और समुदायिक वन अधिकारों में जंगल के संसाधनों के प्रयोग और उनके प्रबंधन और देखभाल का अधिकार शामिल है। इसके अलावा, इसमें वन गाँवों और टांगिया गाँवों को राजस्व गाँवों में बदलने का भी प्रावधान है। संरक्षित क्षेत्रों के वन्य जीवों के लिए बहुत संवेदनशील क्षेत्रों को 'क्रिटिकल वाइल्ड लाइफ हैबिटेट' घोषित करने का प्रावधान है, जो कुछ निश्चित वन क्षेत्रों को मानवीय हस्तक्षेप से मुक्त रखने की व्यवस्था करता है।[41] इसलिए बहुत ही गंभीर सीमाओं के बावज़ूद यह मानना गलत नहीं होगा कि इसने जंगल से जुड़े विविध पहलूओं को प्रभावित करने वाली एक दूरगामी रूपरेखा तैयार की और इसमें ज़मीनी स्तर से चलने वाले संघर्षों ने जबर्दस्त भूमिका निभाई।

II
व्यक्तिगत और सामुदायिक वन अधिकारों का अनुभव

पिछले भाग के वर्णन से यह स्पष्ट है कि वन अधिकार क़ानून एक लंबी, विवादयुक्त और संघर्षपूर्ण प्रक्रिया का नतीजा हैं। दिसम्बर 2006 में इस क़ानून के पारित हो जाने के एक साल से भी ज़्यादा समय के बाद इसकी अधिसूचना जारी की गई। यानी जनवरी 2008 से इसके लागू होने की प्रक्रिया की शुरूआत हुई। लेकिन इस क़ानून के खिलाफ देश के सर्वोच्च न्यायालय और कई उच्च न्यायालयों में मुक़दमा दायर कर दिया गया। वन्य जीवों के संरक्षण से जुड़े संगठनों या वन अधिकारियों के संगठनों ने इस तरह के मुक़दमे दायर किए।[42]

[41] इन पहलूओं की विस्तृत जानकारी के लिए देखें, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007).

[42] इस क़ानून के खिलाफ इन उच्च न्यायालयों में मुक़दमा दायर किया गया : हैदराबाद, बम्बई, मद्रास उच्च न्यायालय (मदुरै खंडपीठ), बंगलौर, भुवनेश्वर और भोपाल उच्च न्यायालय। विस्तार के लिए देखें http://forestrightsact.com/Index.php/Court-Cases?Court, देखने की तारीख : 9. 07.2013.

मोटे तौर पर इन मुक़दमों में यह आरोप लगाया गया कि यह क़ानून देश के जंगलों के लिए खतरनाक हैं; यह 'अतिक्रमण' करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है; इसे ज़ल्दबाजी में पारित किया गया और इसे तैयार करने से पहले सही आँकड़े जुटाने की कोशिश नहीं की गई।[43] मद्रास और भुवनेश्वर उच्च न्यायालयों ने यह व्यवस्था दी कि जब तक इस क़ानून से जुड़े मामलों का निपटारा नहीं हो जाता, तब तक लोगों को 'टाइटल' (या मालिकाना हक़) नहीं दिया जाएगा। बाद में, भुवनेश्वर उच्च न्यायालय ने इस तरह की रोक को वापस ले लिया। लेकिन मद्रास उच्च न्यायालय ने अभी भी यह रोक जारी रखी है।[44] मुकदमा करने वाले समूहों की लगातार कोशिशों के बावजूद सर्वोच्च न्यायालय ने इस क़ानून को लागू करने की प्रक्रिया रोकने का अंतरिम आदेश जारी नहीं किया। इन मामलों पर अभी आख़िरी फैसला नहीं आया है।

शुरू में विभिन्न राज्यों के सत्ताधारी नेताओं ने चुनावी राजनीति का फ़ायदा उठाने के लिए इसे लागू करने में गैर–जरूरी हड़बड़ी दिखाई।[45] इससे क़ानून लागू होने की पूरी प्रक्रिया अस्पष्ट और बेतरतीब हो गई। क़ानून की अधिसूचना जारी होने के तकरीबन दो सालों बाद *पर्यावरण एवं वन मंत्रालय* और *जनजातीय मामलों* के मंत्रालय ने इसके लागू होने की प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिए फरवरी 2010 में एक कमेटी का गठन किया। एन. सी. सक्सेना इस कमेटी के अध्यक्ष थे और इसमें उनके अलावा 19 अन्य सदस्य थे। इस कमेटी की विशेषता यह थी कि इसके सदस्यों में आदिवासी अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले लोगों के साथ–ही–साथ पर्यावरण और इकोलॉज़ी के मुद्दों पर काम करने वाले लोग भी शामिल थे। इसने 15 दिसम्बर 2010 को पेश अपनी रिपोर्ट में राष्ट्रीय स्तर पर इस क़ानून के लागू होने की विस्तृत समीक्षा की।

---

[43] मेनन (2009).

[44] मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा लगाई गई रोक के कारण यहाँ लोगों को अभी तक कोई 'टाइटल' नहीं दिया गया है। स्रोतः अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासी (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम 2006 के लागू होने की स्थिति (30 जून 2013 तक), जनजातीय मामलों का मंत्रालय, भारत सरकार, वेब पताः http://tribal.nic.in/writereaddata/mainlinkFile/File1450.pdf, देखने की तारीख 20.08.2013.

[45] सीएसडी (2010): 2; गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 2; रेड्डी और अन्य (2011): 75; सत्यापालन (2010): 65–66.

इसने क़ानून को लागू होने में सामने आने वाली बहुत सी कमियों का उल्लेख किया।[46] दरअसल, इन कमियों की ओर जन–संगठनों और बहुत से एक्टिविस्टों द्वारा पहले से ही सवाल उठाया जा रहा था।

शोध–पत्र का यह भाग मुख्य रूप से दो उपभागों में बँटा हुआ है। पहले उपभाग में व्यक्तिगत वन अधिकार और दूसरे उपभाग में सामुदायिक वन अधिकार के बारे में विश्लेषण किया गया है। यहाँ पर इन अधिकारों के लागू होने के संदर्भ में सामने आई मुख्य प्रवृत्तियों को रेखांकित किया गया है। शोध–पत्र के आगे के भागों मे संरक्षित क्षेत्र, विकास परियोजनाओं में विशिष्ट श्रेणियों और स्थितियों में इन अधिकारों के लागू होने की प्रक्रिया की समीक्षा की गई है।

1. वन अधिकार क़ानून और व्यक्तिगत अधिकार : 'पट्टे' का संघर्ष

यहाँ मुख्य रूप से इस बात का विश्लेषण किया गया है कि लोगों को पट्टा देने के संदर्भ में किस तरह की प्रवृत्तियाँ सामने आई हैं; लोगों में क़ानून के संदर्भ में किस तरह की जागरूकता रही है; और राज्य के विभिन्न संस्थाओं, ख़ासतौर पर वन विभाग की इस संदर्भ में क्या भूमिका रही है। *जनजातीय मामलों का मंत्रालय* अपने वेबसाइट पर हर महीने इस क़ानून के लागू करने का आँकड़ा प्रकाशित करता है। इसके आधर पर मैंने व्यक्तिगत वन अधिकारों के लागू होने की एक सारणी तैयार की है:

[46] इस रिपोर्ट का शीर्षक इस प्रकार है: *मंथन : रिपोर्ट नैशनल कमेटी ऑन फ़ॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट, दिसम्बर 2010, अ ज्वाइंट कमेटी ऑफ़ मिनिस्ट्री ऑफ़ फॉरेस्ट ऐंड मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफेयर्स*, देखें, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया, (2010बी).

[47] मसलन, देखें गोपालकृष्णन (2010); सीएसडी (2010).

व्यक्तिगत वन अधिकारों के लागू होने की स्थिति
सारणी–1

अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासी (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम 2006 के अंतर्गत मिले व्यक्तिगत वन अधिकारों की स्थिति (30.6.2013 तक)		
राज्य	व्यक्तिगत वन अधिकारों के लिए दाखिल किए गए दावों की संख्या	व्यक्तिगत अधिकारों के लिए दिए गए 'टाइटल' या अधिकार–पत्रों की संख्या
आंध्र प्रदेश	3,23,765	1,65,691
अरूणाचल प्रदेश	–	–
असम	1,26,718	35,407
बिहार	2,930 (व्यक्तिगत और सामुदायिक अधिकारों में अंतर नहीं किया गया है)	28
छत्तीसगढ़	4,87,332	2,14,668
गोवा	–	–
गुजरात	1,82,869	38,321
हिमाचल प्रदेश	5,692 (व्यक्तिगत और सामुदायिक अधिकारों में अंतर नहीं किया गया है)	346
झारखंड	42,003 (व्यक्तिगत और सामुदायिक अधिकारों में अंतर नहीं किया गया है)	15,296
कर्नाटक	1,63,638	6,487
केरल	36,140	23,163
मध्य प्रदेश	4,63,818	1,66,496
महाराष्ट्र	3,40,927	1,01,356
मणिपुर	–	–
मेघालय	–	–
मिजोरम	–	–
ओड़िशा	5,19,055	3,18,375
राजस्थान	68,501	33,586
सिक्किम	–	–
तमिलनाडू	18,420	3,723 वितरण के लिए तैयार है; लेकिन मद्रास उच्च न्यायालय के आदेश के कारण वितरण प्रक्रिया रूकी हुई है।
त्रिपुरा	1,82,340	1,20,473
उत्तर प्रदेश	91,298	16,891

राज्य	व्यक्तिगत वन अधिकारों के लिए दाखिल किए गए दावों की संख्या	व्यक्तिगत अधिकारों के लिए दिए गए 'टाइटल' या अधिकार–पत्रों की संख्या
उत्तराखंड	182 (व्यक्तिगत या सामुदायिक अधिकारों में अंतर नहीं किया गया है)	–
पश्चिम बंगाल	1,29,454	29,422
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	–	–
दमन और दीव	–	–
दादर और नगर हवेली	–	–

स्रोत : अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासी (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम 2006 के लागू होने की स्थिति (30 जून 2013 तक), *जनजातीय मामलों का मंत्रालय,* भारत सरकार, वेब पताः http://tribal.nic.in/writereaddata/mainlinkFile/File1450.pdf, देखने की तारीख 30.08.2013.

हालांकि ये आँकड़े अपने–आप में नाकाफ़ी हैं। इनसे यह पता नहीं चलता कि हर राज्य में कितने 'संभावित लोग' अधिकारों का दावा करने वाले हैं। इससे एक पूरी तस्वीर बनाना मुश्किल है। यह बिल्कुल साफ़ है कि कुछ राज्यों में इस क़ानून को बहुत ही खराब तरीके से लागू किया गया है। मसलन, 30 सितम्बर 2012 तक झारखंड में सिर्फ़ 42,003 लोगों ने व्यक्तिगत अधिकारों का दावा किया था। 30 जून 2013 को भी झारखंड का आँकड़ा ज्यों–का–त्यों है। इसका अर्थ है कि वहाँ लोग इस क़ानून के तहत अधिकारों का दावा नहीं कर रहे हैं। विभिन्न राज्यों में व्यक्तिगत वन अधिकारों के जितने दावे आए, उनमें तक़रीबन आधे मामलों में दावों को क़ानूनी हक़ (या पट्टा) नहीं दिया गया। मसलन, आंध्र प्रदेश में 30 जून 2013 तक कुल 3,23,765 लोगों ने व्यक्तिगत वन अधिकारों का दावा किया। इसमें से 1,65,691 लोगों को ये अधिकार दिए गए। कुल 1,53,438 दावों को खारिज़ किया गया। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए, तो अधिकांश राज्यों में यही स्थिति है।

असल में, व्यक्तिगत अधिकारों के सदंर्भ में लोगों को काफ़ी समस्याओं का सामना करना पड़ा है। मसलन, छत्तीसगढ़ के सूरजपुर ज़िले के

प्रेमनगर ब्लॉक के तेखरानाला गाँव में अपने फील्ड–अध्ययन के दौरान मैंने यह पाया कि लोगों को वन अधिकार समिति बनाने से लेकर दावा दाख़िल करने तक हर स्तर पर संघर्ष करना पड़ा। लंबी जद्दोजहद के बाद अनुसूचित जाति के लोगों को उनके दावे की तुलना में बहुत कम ज़मीन का अधिकार मिला; जबकि गैर अनुसूचित जनजाति के लोगों के दावों को खारिज कर दिया गया।[48] इस संदर्भ में दूसरे कई अध्ययनों से भी महत्त्वपूर्ण बातें सामने आई हैं :

पहला, जे. गोपीनाथ रेड्डी और अन्य ने आंध्र प्रदेश में क़ानून के लागू होने के अपने अध्ययन में बताया है कि कई जगहों पर ग्राम सभा की पूरी तरह उपेक्षा की गई। मसलन, पाँचवी अनुसूची के क्षेत्रों में भी प्रशासनिक गाँव को ही ग्राम सभा माना गया। लेकिन यह गाँव कई टोलों या हैमलेट्स का समूह होता है।[49] पश्चिम बंगाल में ग्राम सभा के बजाय 'पंचायत संसद' (अर्थात् पंचायत समिति) को क़ानून लागू करने की सबसे छोटी इकाई माना गया।[50] बहुत से दूसरे राज्यों में पाँचवी अनुसूची के क्षेत्रों में भी पंचायत स्तर पर ग्राम सभा की बैठक बुलाई गई।

दूसरा, ज्योतिष सत्यपालन के अनुसार, केरल में दावों की जाँच के समय बहुत सारी समस्याएँ आईं। अमूमन अधिकारियों को पर्याप्त प्रमाण नहीं मिले। इस कारण, मार्च 2009 तक केरल के आदिवासी क्षेत्रों में 37000 व्यक्तिगत अधिकार के दावे दाखिल होने के बावज़ूद 31,616 दावे खारिज कर दिए गए। जिन लोगों को पट्टा मिला, उनमें से अधिकांश लोगों को 'प्रोविज़नल' (या अस्थायी) पट्टा ही दिया गया।[51] देश के दूसरे कई भागों में क़ानून के लागू होने की प्रक्रिया के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वन विभाग और दूसरी सरकारी संस्थाओं ने जानबूझकर क़ानून के लागू होने में रोड़े अटकाए। क़ानून द्वारा तय की गई कई कमेटियों (मसलन, सब–डिविजनल, जिला स्तरीय या राज्य

[48] देखें, चौबे (सद्यप्रकाशित) : अध्याय 5.

[49] रेड्डी और अन्य (2011).

[50] झा (2010): 25.

[51] सत्यपालन (2010): 67–68

स्तरीय कमेटी) में वन विभाग के अधिकारी काबिज़ हो गए।[52] मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और छत्तीसगढ़ में बहुत से दावों को कोई कारण बताए बिना ही खारिज़ कर दिया गया।[53] कई जगहों पर वन विभाग ने अधिकार तय करने की प्रक्रिया में दखल दिया और लोगों से 1980 के पहले उस जगह पर रहने का सबूत माँगा।[54] कई अन्य स्थानों पर क़ानून के लागू होने के शुरूआती दौर में वन विभाग को ही नोडल एजेंसी (यानी क़ानून को लागू करवाने वाली और पूरी प्रक्रिया के लिए ज़वाबदेह ऐजेंसी) बना दिया गया।[55]

तीसरा, लोगों ने जितनी ज़मीन का दावा किया, उन्हें उससे बहुत कम ज़मीन मिली। इसी तरह, कई जगहों पर प्लॉट की गलतियाँ हुईं। इस पूरी प्रक्रिया में संबंधित विभागों, ख़ासतौर पर, वन विभाग ने अपनी मनमानी की।[56]

चौथा, क़ानून को लागू करने की प्रक्रिया के पूरा होने के पहले ही राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और ओड़िशा से कई लोगों को उनके घरों से निकाला गया।[57]

पाँचवा, इस क़ानून में वन गाँवों को राजस्व गाँवों में बदलने का प्रावधान है। वन गाँव जंगल के भीतर स्थित हैं। कई ऐसे उदाहरण हैं जब वन गाँव को वन विभाग द्वारा ही बसाया गया। सरकार के अनुसार, देश में कुल 2474 वन गाँव हैं। लेकिन कई संगठनों ने इस संख्या पर संदेह व्यक्त किया है और उनका मानना है कि वन गाँवों की संख्या इससे ज़्यादा है। इनमें से अधिकांश गाँव असम, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश और पश्चिम बंगाल में फैले हुए हैं।[58] उल्लेखनीय है कि वन गाँव संरक्षित क्षेत्र के भीतर भी स्थित हैं। ऐसी हालत में उनका

[52] सीएसडी (2010): 5–14; डोगरा (2010).

[53] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 74–75.

[54] सीएसडी (2010): 2; 11–12

[55] रोमा और रजनीश (2009).

[56] सीएसडी (2010): 11–12; कैम्पेन (2012); पीयूडीआर (2010).

[57] सीएसडी (2010): 15.

[58] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2006): 2–5.

अनुभव संरक्षित क्षेत्र में बसे अन्य गाँवों की तरह ही है जिसके बारे में शोध–पत्र में आगे विवेचना की गई है। *पर्सपेक्टिव* और *पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स* ने मध्य प्रदेश के हरदा ज़िले में वन गाँवों में वन अधिकार क़ानून के लागू होने की प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए यह बताया है कि अन्य जगहों की तरह यहाँ भी कुछ परिवारों को ही व्यक्तिगत वन अधिकार मिला है।[59]

छठा, टांगिया गाँव भी एक विशिष्ट श्रेणी है। ये गाँव भी एक अर्थ में वन गाँव हैं। लेकिन टांगिया गाँवों और अन्य वन गाँवों के बीच मुख्य अंतर यह है कि टांगिया गाँव कभी एक जगह बसे नहीं रहे हैं। ये एक जगह से दूसरी जगह जाते रहे हैं। अंग्रेज़ों द्वारा बर्बाद हुए जंगल को हरा–भरा करने के लिए टांगिया प्रथा उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, केरल, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ आदि प्रदेशों में शुरू की गई। पूरे देश में इन गाँवों की कुल संख्या का ठीक–ठीक अंदाजा लगाना मुश्किल है। 1925 से 1980 के बीच वन टांगिया लोगों ने सिर्फ़ उत्तर प्रदेश के 12 ज़िलों में तक़रीबन एक लाख हेक्टेयर ज़मीन पर जंगल फ़िर से आबाद किया। 1980 में टांगिया प्रथा ख़त्म कर दी गई। लेकिन इन्हें एक जगह बसने के लिए ज़मीन नहीं दी गई।[60] इन गाँवों में रहने वाले लोगों के पास कोई अन्य विकल्प नहीं था। इसलिए ये जंगलों में ही बस गए। इन्हें 'अतिक्रमक' की संज्ञा दी गई। वन विभाग इन पर जंगल ख़ाली करने का दबाव बनाता रहता है। वन अधिकार क़ानून इनके लिए उम्मीद की एक किरण बनकर आया। लेकिन इन गाँवों में बसे लोगों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि यहाँ के अधिकांश लोग 'अन्य पारंपरिक वन निवासियों' की श्रेणी में आते हैं। इनके लिए यह साबित करना नामुमकिन है कि ये एक स्थान पर पिछले 75 सालों से रह रहे हैं। मैंने इस तरह के जिन गाँवों में फील्ड–अध्ययन किया, वहाँ लोगों ने कहा कि 'वन विभाग को हमारे ठौर–ठिकाने का दस्तावेज़ पेश करना चाहिए; उन्हें ही यह पता होगा कि हमारे पुरखों को दस–दस साल के अंतराल

[59] पीयूडीआर (2010); पर्सपेक्टिव (2012).

[60] चौधरी, रोमा और गंभीर (2009).

पर कहाँ–कहाँ रखा गया।' बहरहाल, बहुत से टांगिया गाँवों के दावों को इसी आधार पर खारिज़ कर दिया गया।[61] लेकिन कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ टांगिया गाँवों के लोगों ने सामूहिक संघर्ष द्वारा अधिकार हासिल किया है। उत्तर प्रदेश के गोंडा जिले में जंगलों के बीच बसे महेशपुर वनटांगिया गाँव के 44 परिवारों में से 34 परिवारों को व्यक्तिगत अधिकार पत्र दिए गए हैं।[62] उत्तर प्रदेश के ही गोरखपुर और महराजगंज जिलों के 6 गाँवों के 651 परिवारों को खुद राज्य के वन मंत्री ने व्यक्तिगत अधिकार पत्र दिए। महाराजगंज के 17 टांगिया गाँवों को इसी तरह का व्यक्तिगत अधिकार देने का आश्वासन दिया गया।[63]

सातवाँ, यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि माओवादियों के नियंत्रण वाले क्षेत्रों में इस क़ानून के लागू होने के बारे में कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं है। *जनजातीय मामलों के मंत्रालय* द्वारा दिए जाने वाले आँकड़ो में वामपंथी चरमपंथ से प्रभावित क्षेत्रों में इस क़ानून के लागू होने के बारे में बताया जाता है, लेकिन यह आँकड़ा अपर्याप्त है। इसमें माओवादी हिंसा या राज्य की हिंसा से प्रभावित क्षेत्रों मसलन 'सलवा जुडूम' से प्रभावित गाँवों और ऐसे दूसरे स्थानों के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती है। लेकिन लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए काम करने वाले कई संगठनों ने इन इलाकों में सैन्य कार्रवाई के प्रभावों का अध्ययन किया है। मसलन, 'कोऑर्डिनेशन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स ऑर्गनाइजेशन' (सीडीआरओ) की जाँच से यह बात सामने आई है कि आदिवासी इलाक़ों ख़ासतौर पर छत्तीसगढ़, ओड़िशा और झारखंड में लोगों को कई स्तरों पर दमन का सामना करना पड़ रहा है। इन इलाकों में वन अधिकार क़ानून को भी अनमने तरीके से लागू किया जा रहा है। अमूमन अर्द्धसैनिक बलों की कार्रवाईयों का केन्द्र होने के कारण या तो इन क्षेत्रो में इस क़ानून की पूरी तरह से उपेक्षा की गई है या इसे आंशिक रूप से लागू किया गया है। यानी दूसरी जगहों की तरह ही इन क्षेत्रों में सामुदायिक अधिकार नहीं दिया जा रहा है और बहुत कम

[61] एन.एफ.एफ.पी.एफ.डब्ल्यू (2011).

[62] 'वनटांगिया मज़दूर से मालिक़ बनकर खुश थे वनग्रामवासी', *जनसत्ता*, दिल्ली, 15 मई 2011, पृ. 9.

[63] देखें, चौबे (सद्यप्रकाशित) : अध्याय 5.

लोगों को व्यक्तिगत अधिकार दिया गया है।[64]

इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत अधिकारों की प्रक्रिया में ढ़ेर सारी कमियाँ रही हैं। इसमें बहुत सारे दावों को नकारा गया है। ख़ासतौर पर 'अन्य पारंपरिक वन निवासी' की श्रेणी में आने वाले लोगों के दावों को बहुत ज़्यादा संख्या में खारिज़ किया गया है।[65] इसके अलावा, वन विभाग की मनमानी ने भी इन दावों के स्वीकार किए जाने की प्रक्रिया में बहुत सारी समस्याएँ पैदा की हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत अधिकारों को लागू करने की प्रक्रिया पूरी तरह ठप्प नहीं रही है।

2. सामुदायिक वन अधिकार

सामुदायिक वन अधिकार ऐसे अधिकार हैं जिनका उपयोग लोग सामूहिक या सामुदायिक रूप से कर सकते हैं। ये जंगल के संसाधनों, जंगल के संरक्षण और प्रशासन में स्थानीय समुदायों को हिस्सेदारी देते हैं। अभी तक इस बारे में कोई स्पष्ट तस्वीर नहीं है कि राज्य और केन्द्र स्तर पर लोगों को किस सीमा तक ये अधिकार दिए गए हैं। अधिकांश राज्यों में आँकड़ों और विश्लेषण का पूरी तरह अभाव है। क़ानून की धारा 3(1) के अंतर्गत आने वाले सामुदायिक अधिकार और धारा 3(2) में दिए गए विकास के अधिकार के बारे में भ्रम की स्थिति बनी हुई है। इस बारे में भी कोई स्पष्टता नहीं है कि किस सीमा तक सामुदायिक अधिकारों का दावा किया जा सकता है। व्यक्तिगत अधिकारों के विपरीत इन अधिकारों को ज़्यादा लागू नहीं किया गया है। एक तरह से, इन अधिकारों की उपेक्षा ही की गई है।[66]

---

[64] सीडीआरओ (2011); (2012); अप्रैल 2010 में सीडीआरओ की टीम के सदस्य के रूप में पश्चिमी सिंहभूमि जिले में जंगल के नज़दीक बसे गाँवों का दौरा किया। उसमें हमने यह पाया कि इस क्षेत्र में वन अधिकार क़ानून को लागू करने की प्रक्रिया शुरू नहीं हुई है। यहाँ लोग रोज़मर्रा की जिंदगी में सीआरपीएफ की जाँच–पड़ताल आदि का सामना कर रहे थे और यही उनके लिए सबसे बड़ी समस्या थी।

[65] ऊपर वर्णित तेखरानाला के अनुभवों से यह बात स्पष्ट है। सक्सेना कमेटी में भी इसे रेखांकित किया गया है। देखें गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 80; *कौंसिल फॉर सोशल डवलपमेंट* द्वारा आयोजित सेमिनार में भी यह बात सामने आई। देखें सीएसडी (2010) : 20–21.

[66] मसलन देखें, रोमा और रजनीश (2009); सत्यापालन (2010); रेड्डी और अन्य (2011); सीएसडी (2010); गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी); कैम्पेन (2011); (2012).

सामुदायिक वन अधिकारों के लागू होने की स्थिति

सारणी–2

राज्य	सामुदायिक वन अधिकारों के लिए दाखिल किए गए दावों की संख्या	दिए गए 'टाइटल' या अधिकार–पत्रों की संख्या
आंध्र प्रदेश	6,714	2,106
अरूणाचल प्रदेश	–	–
असम	5,193	860
बिहार	सामुदायिक अधिकारों के बारे में अलग से सूचना नहीं है.	–
छत्तीसगढ़	4,736	775
गोवा	–	–
गुजरात	8,723	1,758
हिमाचल प्रदेश	सामुदायिक अधिकारों के बारे में अलग से सूचना नहीं है.	–
झारखंड	सामुदायिक अधिकारों के बारे में अलग से सूचना नहीं है.	–
कर्नाटक	3,080	90
केरल	1,395	4
मध्य प्रदेश	16,882	9,408
महाराष्ट्र	5, 048	1869
मणिपुर	–	–
मेघालय	–	–
मिजोरम	–	–
ओड़ीशा	5,107	1,774
राजस्थान	346	59
सिक्किम	–	–
त्रिपुरा	277	55
उत्तर प्रदेश	1,135	814
पश्चिम बंगाल	7,824	108; और 2969 वितरण के लिए तैयार हैं।
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	–	–
दमन और दीव	–	–
दादर नगर हवेली	–	–

स्रोत : 'अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासी (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम 2006' के लागू होने की स्थिति (30 जून 2013 तक), जनजातीय मामलों का मंत्रालय, भारत सरकार, वेब पता: http://tribal.nic.in/writereaddata/mainlinkFile/File1450.pdf, देखने की तारीख 10.08.2013.

इस सारणी से यह बात स्पष्ट है कि तुलनात्मक रूप से बहुत कम संख्या में सामुदायिक अधिकारों का दावा किया गया है और अधिकांश राज्यों में इन दावों में से अधिकांश को पूरी तरह खारिज़ कर दिया गया है। इस संदर्भ में मध्य प्रदेश की स्थिति थोड़ी बेहतर है, यहाँ सामुदायिक अधिकार के 16,882 दावों में से 9,408 दावों को स्वीकार करके उन्हें अधिकार दिया गया है। लेकिन इसके अलावा, विभिन्न राज्यों में इनके लागू होने की दर बहुत अच्छी नहीं है। मसलन, आंध्र प्रदेश में सामुदायिक अधिकारों के 6,714 दावे किए गए, लेकिन इनमें से सिर्फ़ 2,106 दावों को ही मालिकाना हक़ मिल पाया है। असम में 5,193 दावों में से 860, छत्तीसगढ़ के 4,736 दावों में से सिर्फ़ 775 दावों को स्वीकार किया गया। इस संदर्भ में बहुत से राज्यों की स्थिति और भी ज़्यादा ख़राब है। मसलन, कर्नाटक में दाख़िल किए गए 3,080 दावों में से सिर्फ़ 90 को ही स्वीकार किया गया है (देखें सारणी 2)। इस संदर्भ में ज़्यादा निराशाजनक बात यह है कि अधिकांश राज्यों में सामुदायिक अधिकारों के नए दावे नहीं किए जा रहे हैं। मसलन, सितम्बर 2012 से लेकर जून 2013 के बीच कुछ राज्यों को छोड़कर बाकी राज्यों में सामुदायिक अधिकार का कोई नया दावा नहीं किया गया।

दरअसल, सामुदायिक अधिकार के लिए ज़्यादा ज़मीन की माँग की जानी चाहिए थी, क्योंकि देश में बहुत ज़्यादा संख्या में गाँव जंगल में या जंगल के नज़दीक बसे हुए हैं।[67] लेकिन क़ानून की अधिसूचना ज़ारी होने के बाद इस क़ानून को 'पट्टा वितरण क़ानून' के रूप में पेश किया गया। सामुदायिक अधिकारों के लागू होने के संदर्भ में बहुत ज़्यादा कमियाँ रहीं। इनमें से कुछ कमियों को निम्नलिखित बिंदुओं में स्पष्ट किया जा सकता है :

पहला, बहुत से क्षेत्रों में क़ानून के इन प्रावधानों के बारे में लोगों

[67] दरअसल कुछ आँकडों पर ध्यान देने से यह बात ज़्यादा स्पष्ट हो जाती है: पहला, *फॉरेस्ट सर्वे ऑफ़ इंडिया* के अनुसार, 170,000 ऐसे गाँव है, जिनका कुछ–न–कुछ क्षेत्र जंगल की ज़मीन में आता है। ऐसे क्षेत्रों में कुल वन क्षेत्र 32 मिलियन हेक्टेयर है; दूसरा, देश में तकरीबन कुल 100,000 संयुक्त वन प्रबंधन (जेएफएम) कमेटियाँ हैं और उनकी सुरक्षा में कुल 22 मिलियन हेक्टेयर ज़मीन है। देखें गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 86.

में जागरूकता का अभाव रहा है।[68] दरअसल, उन क्षेत्रों में जहाँ लोग शिक्षित नहीं हैं और जहाँ कोई जन–संगठन सक्रिय नहीं है वहाँ लोगों तक इस क़ानून की सही समझ नहीं पहुँच पाई है।[69] बहुत सारे स्थानों पर वन अधिकारियों को भी इस क़ानून के बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं रही है।[70] इस क़ानून को लागू करने के पहले चरण में बहुत सारे राज्यों में सामुदायिक अधिकार का फ़ॉर्म वितरित नहीं किया। मैने जिन गाँवों में फील्ड–अध्ययन किया, वहाँ भी यही स्थिति थी।

दूसरा, गुजरात, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में गाँवों के लोगों ने बहुत कम सामुदायिक अधिकारों का दावा किया। यहाँ जिन अधिकारों का दावा किया उनमें से 22 इस क़ानून की धारा 3(2) के अंतर्गत मिलने वाले विकास अधिकार थे; सिर्फ़ 11 अधिकार ही निस्तार अधिकार थे और एक अधिकार पारंपरिक ज्ञान के बौद्धिक अधिकार से जुड़ा हुआ था। बहुत सी जगहों पर लघु वनोपजों का बहुत सीमित अधिकार दिया गया। लोग सिर्फ़ अपनी रोज़मर्रा की आवश्यकताओं के लिए इसका उपयोग कर सकते हैं। वे इन्हें बेच नहीं सकते हैं।[71] समर्थन संस्था द्वारा छत्तीसगढ़ के गाँवों के अध्ययन से यह बात सामने आई कि यहाँ पर वनोपजों, बाजार, चराई के क्षेत्र आदि के लिए बहुत कम जगहों पर ज़मीन का दावा किया गया। इसकी बजाय स्कूल बनाने, सामुदायिक भवन बनाने आदि के लिए ज़मीन की माँग ज़्यादा की गई।[72]

तीसरा, सामुदायिक वन अधिकारों में से कुछ अधिकार बहुत ही नई तरह की शब्दावली में पेश किए गए हैं। मसलन, जैव–विविधता और बौद्धिक संपदा का अधिकार। अमूमन आदिवासी कार्यकर्त्ता इस तरह के अधिकारों को समझने में नाकाम रहे हैं।

चौथा, बहुत–सी जगहों पर लोगों को यह लगा कि चूंकि उन्हें किसी पुराने क़ानून से अधिकार मिला हुआ है, इसलिए उन्हें इस क़ानून के

[68] कोठारी (2011).

[69] रामनाथ (2008): 39.

[70] मुन्सटेर और विष्णुदास (2012): 38.

[71] सीएसडी (2010): 24.

[72] समर्थन (2010), गवर्ननमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 88 में उद्धृत.

तहत सामुदायिक अधिकारों का दावा करने की ज़रूरत नहीं है। मसलन, आंध्र प्रदेश के चारागाही समुदायों और झारखंड के विभिन्न समुदायों ने इसलिए सामुदायिक अधिकारों का दावा नहीं किया क्योंकि उन्हें यह लगा कि पहले के क़ानूनों द्वारा उन्हें ये अधिकार मिले हुए हैं।[73]

पाँचवा, आंध्र प्रदेश और गुजरात में संयुक्त वन प्रबंधन के अंतर्गत गठित समितियों को ही सामुदायिक अधिकार दे दिए गए।[74] इन समितियों पर पूरी तरह वन विभाग का नियंत्रण होता है। ग्राम सभा के बजाय इन समितियों को अधिकार देना वन अधिकार क़ानून का सरासर उल्लंघन है।

छठा, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है, 'अन्य पारंपरिक वन निवासियों' को अधिकांश जगहों पर यह साबित करने में दिक्कत हो रही है कि वे एक स्थान पर तीन पीढ़ियों (अर्थात् 75 सालों) से रह रहे हैं; या उस पर तीन पीढ़ियों से निर्भर हैं।[75]

सातवाँ, बहुत से स्थानों पर समुदायों के दावों पर कारवाई करने में काफी देर हो रही है या उन्हें काफ़ी तादाद में खारिज़ किया जा रहा है। सामुदायिक अधिकारों को स्वीकार न करने का एक प्रमुख कारण यह है कि ये स्थानीय समुदायों को वनोपजों पर अधिकार देते है। लेकिन इन्हीं वनोपजों से वन विभाग की आय का आधा हिस्सा आता है।[76]

आठवाँ, अधिकांश वन गाँवों और टांगिया गाँवों में भी लोगों को सामुदायिक अधिकार नहीं दिया गया है। यह जरूर हुआ है कि कई वन गाँवों में इस क़ानून के लागू होने के बाद वन विभाग ने गाँवों

[73] अंथरा (2010); गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 90.

[74] आंध्र प्रदेश के अनुभव के लिए देखें रेड्डी और अन्य (2011); गुजरात के संदर्भ के लिए देखें सीएसडी (2010): 11.

[75] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 92; सीएसडी (2010).

[76] महापात्रा और अन्य (2010); गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 92.

के लोगों पर अपना नियंत्रण बढ़ाने की कोशिश की। मसलन, मध्य प्रदेश के हरदा ज़िले में वन गाँवों पर अपना नियंत्रण कायम रखने के लिए वन विभाग ने कुछ लोगों को हथियार देकर 'फॉरेस्ट वाचर' बनाया। साथ ही, जंगल के पास 'वन चौकी' का निर्माण किया, ताकि लोगों के जंगल में आने–जाने पर कड़ी निगाह रखी जा सके।[77]

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कई राज्यों में व्यक्तिगत वन अधिकारों के संदर्भ में ठीक–ठाक प्रगति हुई हैं, लेकिन इसे पूरी तरह से संतोषजनक नहीं माना जा सकता है। वन विभाग के दख़ल और अन्य पारंपरिक वन निवासियों के लिए 75 साल से एक जगह रहने की शर्त के कारण बहुत से लोगों को अपना अधिकार नहीं मिला है। दूसरी ओर, सामुदायिक वन अधिकारों के लागू होने की स्थिति बहुत ही निराशाजनक है।

III
संरक्षित क्षेत्र और वन अधिकार क़ानून

नैशनल पार्क या अभयारण्य की अवधारणा इस बुनियाद पर आधारित है कि जंगली जानवरों के लिए एक ऐसा क्षेत्र होना चाहिए, जहाँ वे खुलकर अपनी जिंदगी जी पाएँ। यानी यहाँ बाहरी दख़ल कम–से–कम होना चाहिए। ये संरक्षित क्षेत्र का भाग होते हैं। संरक्षित क्षेत्रों को एक विशेष हैसियत मिली हुई है। वन अधिकार क़ानून में संरक्षित क्षेत्रों में 'संकट–ग्रस्त वन्य जीव आवास' या 'क्रिटिकल वाइल्ड–लाइफ हैबिटेट' (या सीडब्ल्यूएच) बनाने का प्रावधान किया गया है। क़ानून के मुताबिक़ संरक्षित क्षेत्र के ऐसे स्थान को सीडब्ल्यूएच घोषित किया जा सकता है, जहाँ वन्य जीवों की सुरक्षा के लिए लोगों को हटाना अनिवार्य हो। यह फ़ैसला विशेषज्ञों की एक समिति करेगी। किसी स्थान को सीडब्ल्यूएच घोषित करने से पहले वहाँ रहने वाले लोगों के अधिकारों को मान्यता देना आवश्यक है। लोगों के पुनर्वास के लिए एक पैकेज भी तैयार होना चाहिए। इस प्रक्रिया के आधार पर वन निवासी अपनी रज़ामंदी से दूसरी जगह जा सकते हैं।[78] शोध–पत्र के इस भाग में

[77] देखें, पीयूडीआर (2010); पर्सपेक्टिव (2012).

[78] देखें, धारा (4), गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007): 5.

पहले राजाजी नैशनल पार्क में इस क़ानून के लागू होने की स्थिति का वर्णन किया गया है और उसके बाद देश के अन्य भागों के संरक्षित क्षेत्रों की स्थिति के बारे में विचार किया गया है।

1. राजाजी नैशनल पार्क : वन–गूजरों का अंतहीन संघर्ष

राजाजी नैशनल पार्क की स्थापना 1983 में हुई। यहाँ वन–गूजर पिछली कई पीढ़ियों से रह रहे हैं। ये मुस्लिम हैं और जानवर पालना इनका खानदानी पेशा है। इनके जानवरों को जंगल से चारा आदि मिलता है और ये बाहर के लोगों को अपने पालतू जानवरों का दूध बेचते हैं। वन–गूजर अमूमन गर्मियों में जंगल के अपने डेरे को छोड़कर पहाड़ी इलाकों में चले जाते हैं। वे अपने कुछ जानवरों को साथ ले जाते हैं और कुछ जानवर अपने डेरे पर ही छोड़ देते हैं। इन जानवरों की देखभाल के लिए परिवार का कोई सदस्य डेरे पर ही रूक जाता है। वन–गूजरों के बुजुर्ग लोगों के अनुसार तकरीबन 6 या 7 पीढ़ियों से– या उससे भी ज़्यादा समय से वे यहाँ रह रहे हैं।[79]

वन अधिकार क़ानून के मुताबिक यहाँ रहने वाले लोगों के अधिकारों को तय किए बगैर उन्हें यहाँ से नहीं हटाया जा सकता है। लेकिन चूंकि वन–गूजर अनुसूचित जनजाति की श्रेणी के भाग नहीं हैं इसलिए क़ानून के मुताबिक़ अधिकारों का दावा करने के लिए उन्हें यह साबित करना होगा कि वे एक जगह पर तीन पीढ़ियों अर्थात् 75 सालों से रह रहे हैं। वन–गूजर घुमन्तु (या यायावर) जातियों के अंतर्गत आते हैं। क़ानून में इन्हें हैबिटेट और हैबिटेशन का अधिकार भी मिला हुआ है। इसलिए वन प्रशासन के लिए इन लोगों को जंगल से निकालना आसान नहीं है। उसे पहले इनके अधिकारों को मान्यता देनी होगी और फिर यह साबित करना होगा कि इनके लिए पार्क से बाहर जाना ही आख़िरी विकल्प है।

औपचारिक रूप से पार्क बनने के पहले से ही प्रशासन की यह कोशिश रही है कि यहाँ बसे लोगों को इस क्षेत्र से बाहर बसा दिया

[79] स्त्रोत : वन गूजरों से बातचीत, 10 सितम्बर 2011, स्थान– राजाजी नैशनल पार्क।

जाए। इसमें बहुत से परिवारों को पार्क से बाहर बसाया गया, लेकिन ऐसे लोग अपने पुनर्वास से नाखुश हैं। बहुत से परिवारों ने 'विकल्प' जैसी संस्था से जुड़कर इस प्रक्रिया का विरोध किया।[80] पार्क प्रशासन के अनुसार, परिवारों की नई गणना के मुताबिक अभी पार्क के भीतर कुल 1600 वन–गूजर परिवार रह रहे हैं।[81] वन विभाग ने वन अधिकार क़ानून की पूरी तरह उपेक्षा की है। इसने उन परिवारों को अपना निशाना बनाया जो पार्क के वन–गूजरों को संगठित करने का प्रयास कर रहे थे। उसने नूर जमाल और जहूर के डेरे को उजाड़ दिया।[82] ये 'राष्ट्रीय वन–जन श्रमजीवी मंच' से जुड़े हैं और इस क्षेत्र के लोगों को वन अधिकार के लिए जागरूक करने का प्रयास किया है। इनका मानना है कि इसी कारण प्रशासन ने इनके डेरे तोड़कर उन्हें ज़बर्दस्ती पार्क से बाहर कर दिया गया।[83] मई 2006 में नूर जमाल का डेरा तोड़ा गया और कुछ समय बाद जहूर का। उन्होंने अदालत का दरवाजा खटखटाया। नैनीताल उच्च न्यायालय ने अपने फैसले में इन्हें यहाँ से हटाने की कार्यवाई को गलत बताया। उसने इनके डेरे को फिर से पार्क में बसाने का आदेश दिया। लेकिन वन विभाग ने इस पर कोई कार्यवाही नहीं की।[84] पार्क के अंदर रहने वाले लोगों को भी वन अधिकार देने के संदर्भ में कोई ख़ास कार्यवाही नहीं हुई है।[85]

वन विभाग के अधिकारियों से हुई बातचीत से यह स्पष्ट है कि वे पार्क को एक ऐसे क्षेत्र के रूप में देखते हैं जिन पर उनका पहला हक है। इसकी हिफ़ाज़त उनकी पहली ज़िम्मेदारी है और इसके लिए

---

[80] रंगराजन (2003): 219.

[81] स्रोतः पार्क के निदेशक और दूसरे अधिकारियों से बातचीत, 15 सितम्बर 2011, स्थान– देहरादून।

[82] सक्सेना कमेटी ने भी अपनी रिपोर्ट में इस बात को स्वीकार किया है कि वन–गूजरों के घरों को उजाड़ना वन अधिकार क़ानून का उल्लंघन था। देखें गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 129.

[83] नूर जमाल और जहूर से बातचीत, स्थान– राजाजी नैशनल पार्क के नजदीक नूर जमाल के डेरे में, तारीख 13 सितम्बर 2011.

[84] वही. साथ ही देखें, कुमार (2011): 49.

[85] 'राष्ट्रीय वन जन श्रमजीवी मंच' के वरिष्ठ कार्यकर्त्ता मुन्नीलाल से बातचीत, 20 सितम्बर 2011, स्थानः देहरादून. साथ ही देखें, कुमार (2011): 49.

वन– गूजरों को यहाँ से बाहर निकालना आवश्यक है।[86] वन विभाग के विपरीत वन–गूजर यह मानते हैं कि जंगल उनके अपने अस्तित्व के लिए बहुत ही ज़रूरी है। वे खुद को जंगली जानवरों के लिए ख़तरा बताए जाने पर अचरज करते हैं। इनका दावा है कि ये हमेशा से जंगलों और जंगली जानवरों की देखभाल करते रहे हैं। इसलिए उनके बारे में ये बातें बिल्कुल गलत हैं।[87]

यह स्पष्ट है कि राजाजी नैशनल पार्क में वन–गूजरों को व्यक्तिगत या सामूहिक वन अधिकार बिल्कुल ही नहीं मिलें है। यहाँ पार्क प्रशासन मानवरहित पार्क बनाने के आदर्श से काम कर रहा है। इसने इस क़ानून की पूरी तरह उपेक्षा की है। क़ानून में मौज़ूद सीडब्ल्यूएच के प्रावधान को लागू करने के बजाय इसने वन गूजरों की गतिविधियों पर कई सारी पाबंदियाँ लगा दी हैं। लेकिन 'राष्ट्रीय वन–जन श्रमजीवी मंच' से जुड़े होने के कारण वन–गूजरों की राजनीतिक जागरूकता और क़ानून की समझ काफ़ी बढ़ी है। इसलिए, अमूमन स्कूली शिक्षा से वंचित रहने के बावजूद भी इन लोगों को क़ानून की कई धाराएँ याद हैं। ये इस बात पर लंबी तकरीर देते हैं कि आख़िर वे क्यों पार्क में रहने के हकदार हैं।[88]

2. देश के अन्य भागों के संरक्षित क्षेत्रों में वन अधिकार क़ानून की स्थिति

देश के दूसरे संरक्षित क्षेत्रों में स्थिति इससे बेहतर नहीं है। अधिकांश राज्यों के संरक्षित क्षेत्रों में इस क़ानून को नकारा जा रहा है। ऐसा उन क्षेत्रों में ज़्यादा हो रहा है जिन्हें हड़बड़ी में क्रिटिकल टाइगर हैबिटेट (सीटीएच)[89] घोषित किया गया है। सीटीएच की स्थापना

[86] पार्क के निदेशक और दूसरे अधिकारियों से बातचीत, 15 सितम्बर 2011, स्थान– देहरादून।

[87] नूर जमाल से बातचीत, स्थान– राजाजी नैशनल पार्क के नजदीक नूर जमाल के डेरे में, तारीख 13 सितम्बर 2011.

[88] वही.

[89] *वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम 1972* की धारा 38(v) के अनुसार, नैशनल टाइगर कंजरवेशन अथॉरिटी (एनसीटीए) अधिकारियों से बनी विशेषज्ञ समिति नैशनल पार्क या वाइल्ड लाइफ रिजर्व के किसी क्षेत्र को 'कोर जोन' या 'क्रिटिकल टाइगर हैबिटेट' घोषित कर सकती है। राज्य सरकार इसका अनुमोदन करती है। यह ऐसा क्षेत्र होता है जो बाघों के संरक्षण के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। देखें, मंजुल (2012).

करते वक्त *वन्य जीव (संरक्षण) क़ानून 1972* में 2006 में हुए संशोधन को ध्यान में नहीं रखा गया। इस संशोधन के अनुसार सीटीएच घोषित करने से पहले वन अधिकार क़ानून के अंतर्गत अधिकारों को मान्यता दी जानी चाहिए। दरअसल, अधिकांश टाइगर रिजर्वों में बसे लोगों पर यह दबाव डाला जा रहा है कि 10 लाख रूपया लेकर दूसरी जगह बस जाएँ। महाराष्ट्र, तमिलनाडू, ओड़िशा, छत्तीसगढ़, राजस्थान, अरूणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश और पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों में टाइगर रिजर्वों से लोगों को हटाने की कोशिशें चल रही हैं।[90] इसके अलावा, संरक्षित क्षेत्रों के आस–पास बसे बहुत से 'डिनोटिफाइड जनजातियों' को 'शिकारी जातियों' के रूप में जाना जाता रहा है। इसलिए इन्हें स्टीरियोटाइप (रूढ़िबद्ध) सोच रखने वाले वन अधिकारियों के दमन का सामना करना पड़ रहा है।[91] कई जगहों से लोगों को बेदखल भी किया गया। मसलन, अगस्त 2010 में कान्हा और पन्ना टाइगर रिजर्व वन क्षेत्र के आस–पास से 70 लोगों को ज़बरन जंगल की ज़मीन से बेदख़ल करके गिरफ़्तार किया गया।[92]

सक्सेना कमेटी रिपोर्ट ने अपनी रिपोर्ट में यह बताया कि बहुत से संरक्षित क्षेत्रों में व्यक्तिगत अधिकारों को मान्यता देने की प्रक्रिया की शुरूआत हुई थी लेकिन इन क्षेत्रों में भी सामुदायिक अधिकारों को मान्यता नहीं दी जा रही है।[93] इसके अलावा, इन क्षेत्रों में वन विभाग का नियंत्रण काफ़ी बढ़ा है। मसलन, वायनाड वाइल्डलाइफ सेंकचुरी में वन विभाग ने लोगों की गतिविधियों को रोकने के लिए इलेक्ट्रिक बाड़े भी लगाए।[94] राष्ट्रीय वन जन श्रमजीवी मंच द्वारा आयोजित जन–सुनवाई में संरक्षित क्षेत्रों से आए बहुत से लोगों ने यह बताया कि उन्हें व्यक्तिगत अधिकार भी नहीं दिए जा रहे हैं। वन विभाग उन्हें यहाँ से निकालने

[90] सीएसडी (2010) : 21

[91] वही : 21–22

[92] सिंह (2010).

[93] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी) : 128–129

[94] मुन्स्टेर और विष्णुदास (2012) : 41

की कोशिश में लगा है।[95] कुछ जगहों पर अपने संघर्ष की बदौलत लोग अपना अधिकार पाने में सफल रहे हैं। मसलन, दुधवा नैशनल पार्क के भीतर स्थिति एक वन गाँव सूरमा के लोगों को अधिकार मिले हैं। यहाँ के लोगों द्वारा राष्ट्रीय वन–जन श्रमजीवी मंच के साथ जुड़कर वन अधिकार क़ानून के माध्यम से किए गए संघर्ष ने इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।[96] लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं।

यह स्पष्ट है कि संरक्षित क्षेत्रों में इस क़ानून की पूरी तरह उपेक्षा हुई है। कहीं–कहीं व्यक्तिगत अधिकारों की प्रक्रिया आगे बढ़ी, लेकिन सामुदायिक आधिकारों की उपेक्षा की गई है। और कई जगहों पर लोगों को व्यक्तिगत अधिकार भी नहीं दिए गए हैं। वन विभाग लोगों को इन क्षेत्रों से बाहर निकालना चाहता है। लेकिन वह इसके सीडब्ल्यूएच के प्रावधान का प्रयोग करने के बजाय स्थानीय लोगों को डराने–धमकाने और लालच देने के उपायों का सहारा ले रहा है। बहुत से संरक्षणवादी क़ानून बन जाने के बाद भी संरक्षित क्षेत्रों को इस क़ानून के दायरे से बाहर करने के लिए ज़ोरदार तरीके से तर्क दे रहे हैं।[97] बहरहाल, यह भी याद रखने की आवश्यकता है कि अधिकांश संरक्षित क्षेत्रों में स्थानीय समुदाय अपने हक के लिए लड़ रहे हैं और कुछ जगहों पर उन्हें कामयाबी भी मिली है।

[95] राष्ट्रीय वन–जन श्रमजीवी मंच द्वारा अपने चौथे राष्ट्रीय सम्मेलन के पहले दिन एक जन–सुनवाई का आयोजन किया गया। इसका विषय था– 'राष्ट्रीय पार्कों और अभयारण्यों में वन अधिकार क़ानून का क्रियान्वयन।' इसमें दुधवा टाइगर प्रोजेक्ट (उत्तर प्रदेश), कार्बेट टाइगर प्रोजेक्ट (उत्तराखंड), बुक्सा टाइगर रिजर्व (उत्तरी बंगाल), सुंदरबन टाइगर रिजर्व (पश्चिम बंगाल), कुम्भलगढ़ वाइल्ड लाइफ सेंकचुरी (राजस्थान), राजाजी नैशनल पार्क (उत्तराखंड), ग्रेट हिमालयन नैशनल पार्क (हिमाचल प्रदेश) आदि जगहों से लोग आए थे। इन लोगों ने बताया कि वन विभाग स्थानीय प्रशासन के सहयोग से उन्हें उनके निवास स्थान से बाहर निकालने की पुरज़ोर कोशिश कर रहा है। देखें एन.एफ.एफ.पी.एफ.डब्ल्यू (2012): 2.

[96] इस बारे में विस्तार से जानकारी के लिए देखें रोमा (2011ए); रोमा और रजनीश (2011ए); (2011बी); त्रिपाठी (2011); सिंह (2011); एन.एफ.एफ.एफ.पी.एफ.डब्ल्यू (2012).

[97] मसलन देखें भार्गव और दत्तात्री (2011).

IV
वन अधिकार क़ानून, विकास योजनाएँ और वन निवासी

भारत के जंगलों के एक बड़े हिस्से को 'विकास' के लिए सामान्य ज़मीन में बदला जाता रहा है। खनन, पावर प्लांट, बाँध, रोड, कारखाने, खेल और पर्यटन जैसे कामों के लिए ऐसा किया जाता रहा है। यह एक तथ्य है कि भारत के अधिकांश जंगली क्षेत्रों में लोग रहते हैं। वे जंगल के संसाधनों का उपयोग करते हैं। इसलिए वन भूमि में इस तरह के बदलाव से इन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इससे इन्हें विस्थापन का सामना करना पड़ता है। 1980 के बाद से *वन संरक्षण क़ानून* ने इस तरह के बदलाव या डायवर्ज़न की प्रक्रिया को केन्द्रीकृत कर दिया है। उस समय से लेकर 2010 तक 1.2 मिलियन हेक्टेयर वन भूमि को सामान्य भूमि में बदला गया है। इसके पहले 1951 से 1980 तक 4.24 मिलियन हेक्टेयर वन भूमि को सामान्य भूमि में बदला गया था।[98]

वन अधिकार क़ानून स्थानीय समुदायों को ज़मीन के संरक्षण का अधिकार देता है। क़ानून की धारा 5 अधिकार–धारकों और ग्राम सभा से यह माँग करती है और उन्हें यह शक्ति देती है कि वे वन्य जीव, जंगल और जैव विविधता की रक्षा करें; इस बात को सुनिश्चित करें कि आस–पास के क्षेत्र (कैचमेंट एरिया), जल स्रोत और इकोलॉजिकल रूप से संवेदनशील अन्य क्षेत्रों की पर्याप्त सुरक्षा हो; वन निवासी अनुसूचित जनजातियाँ और अन्य पारंपरिक वन निवासियों की ऐसी सभी विनाशकारी व्यवहारों से सुरक्षा हो, जो उनके सांस्कृतिक और प्राकृतिक हेरीटेज को प्रभावित करती हों।[99]

इन प्रावधानों को ध्यान में रखते हुए जुलाई 2009 में *पर्यावरण एवं वन मंत्रालय* ने एक आदेश ज़ारी किया। यह आदेश वन भूमि को गैर–वनीय मकसद के लिए सामान्य भूमि में बदलने से संबंधित था। इस आदेश में राज्य सरकारों से यह कहा गया कि वे लिखित रूप में ग्राम सभा की सहमति का प्रमाण–पत्र दें।[100] लेकिन मैंने अपने

[98] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): अध्याय 5

[99] धारा 5 (ए), (बी), (सी), (डी), गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007): 5–6.

[100] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 103.

फील्ड–वर्क के दौरान पाया कि वन विभाग के अधिकारी इस आदेश से नावाकिफ़ थे। फिर भी, बहुत से स्थानों पर लोगों ने पेसा और वन अधिकार क़ानून को आधार बनाकर ऊपर से थोपे जाने वाले विकास मॉडल का विरोध किया है। प्रस्तुत भाग में हम ऐसे कुछ उदाहरणों पर विचार करेंगे जहाँ लोगों ने 'विकास' कार्यों के विरोध के लिए इस क़ानून का उपयोग किया।

1. छत्तीसगढ़ के सूरजपुर जिले के प्रेमनगर ब्लॉक में इफ्फको पावर प्लांट के ख़िलाफ़ संघर्ष

छत्तीसगढ़ का सूरजपुर जिला क्षेत्र पाँचवी अनुसूची के अंतर्गत आता है। इसके प्रेमनगर ब्लॉक के आस–पास के क्षेत्रों में कोयला मौजूद है। इस लिहाज से यह किसी औद्योगिक संयंत्र को स्थापित करने के लिए आदर्श क्षेत्र बन जाता है। इसी कारण 4 जून 2005 को छत्तीसगढ़ सरकार और 'इंडियन फार्मर्स फर्टीलाइजर कोऑपरेटिव' (इफ्फको) ने एक सहमति–पत्र (या एमओयू या मेमोरेंडम ऑफ़ अंडरस्टैंडिंग) पर हस्ताक्षर किया। इसमें तकरीबन 4500 करोड़ रूपये की लागत से प्रेमनगर में 1000 मेगावाट का थर्मल पावर प्लांट लगाने का फ़ैसला किया गया। इस परियोजना के लिए 2400 हेक्टेयर ज़मीन की आवश्यकता थी। इसमें से 1100 हेक्टेयर वन भूमि, 310 हेक्टेयर राजस्व भूमि और 1090 हेक्टेयर निजी ज़मीन लिए जाने का प्रस्ताव था। इससे 31 गाँवों के विस्थापित होने का खतरा था। इन 31 गाँवों की जनसंख्या मिली–जुली है। इनमें अधिकांश लोग अनुसूचित जनजातियों की श्रेणी में आते हैं। इनमें गोंड, पंडो आदि जनजातियाँ प्रमुख हैं। ऐसे समुदाय भी हैं जो अनुसूचित जनजातियों की श्रेणी में नहीं आते हैं, लेकिन खुद को आदिवासी मानते है। मसलन, बरगाह जैसी जातियों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। तीसरा समूह बिंझिया और यादव जैसी जातियों का है जिनकी जीवनशैली 'मुख्यधारा' के काफी नज़दीक हैं।[101]

[101] फील्ड–वर्क के दौरान स्थानीय लोगों की बातचीत के आधार पर मैंने यह वर्गीकरण किया है। 'आदिवासी' और 'देशवासी' शब्द का प्रयोग खुद इन समुदायों से संबंधित लोगों द्वारा किया गया।

एक स्थानीय संस्था *मार्गदर्शक सेवा संस्थान* ने लोगों को इस प्लांट के खिलाफ जागरूक और संगठित किया। इसके सदस्यों ने सभी गाँवों में जाकर लोगों को बताया कि यह प्लांट उन्हें उनके गाँव से बेदखल कर सकता है। पेसा और वन अधिकार क़ानून– दोनों में ही ग्राम सभाओं को विकास के लिए गाँव की ज़मीन न देने के बारे में फैसला करने का हक़ दिया गया है।[102] केवल चार गाँवों को छोड़कर बाकी सभी गाँवों की ग्राम सभाओं ने यह फ़ैसला किया कि वे इस तरह के किसी भी प्लांट के लिए अपनी ज़मीन नहीं देंगे। प्लांट के ख़िलाफ़ संघर्ष में महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभाई।[103] इन गाँवों के लोगों ने संगठित होकर कई स्तरों पर संघर्ष किया। इन्होंने धरना, प्रदर्शन, भूख हड़ताल आदि का सहारा लिया। अक्सर इनके प्रदर्शन में आदिवासी समूह अपने पारंपरिक तीर–धनुष के साथ शामिल होते थे। लोगों ने बताया कि यदि वे क़ानूनी और अहिंसक प्रतिरोध की लड़ाई में हार जाते, तो वे अपनी ज़मीन और गाँव को बचाने के लिए हिंसक संघर्ष करते।[104] गाँव के लोगों ने स्थानीय संगठन की मदद से *पर्यावरण एवं वन मंत्रालय* का दरवाजा भी खटखटाया और यह साबित करने की कोशिश की कि यह पूरी योजना जंगल और पर्यावरण के लिहाज़ से भी नुक़सानदेह है।

प्रशासन ने कई स्तरों पर इस आंदोलन को तोड़ने की कोशिश की। उसने गाँव के लोगों में फूट डालने प्रयास किया। वन विभाग ने बहुत ही आसानी से अपने हिस्से की ज़मीन प्लांट के लिए दे दी। लेकिन कुछ पेड़ों की कटाई के बाद ही गाँव वालों के विरोध के कारण इस काम को रोकना पड़ा।[105] आख़िरकार, बहुत सारे उतार–चढ़ाव और लंबे संघर्ष के बाद इफ्फको ने अपना प्लांट यहाँ लगाने का फैसला बदल

[102] मसलन, पेसा क़ानून की धारा 4 (i) में यह प्रावधान किया गया है कि पाँचवी अनुसूची के क्षेत्रों में ज़मीन के अधिग्रहण से पहले ग्राम सभा से इज़ाज़त ली जाएगी (गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया 1996)। इसी तरह, वन अधिकार क़ानून की धारा 5 में भी ग्राम सभा को जंगलों की सुरक्षा और संरक्षण का अधिकार दिया गया है। 'देखें गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया' (2007).

[103] गाँववालों से बातचीत, तारीखः 5 दिसम्बर 2011, स्थानः चंदननगर.

[104] वही.

[105] वही.

दिया। अब इसके अधिकारी प्रेमनगर से थोड़ी दूरी पर किसी जगह की तलाश कर रहे हैं।[106]

2. ओड़िशा के जगतसिंहपुर में पोस्को का मामला

पोहांग स्टील कंपनी (या पोस्को) दक्षिण कोरिया की एक कंपनी है। यह दुनिया के कम–से–कम 70 देशों में इस्पात बनाने की परियोजनाएँ चलाती है। इस कपंनी ने ओड़िशा सरकार के साथ 22 जून 2005 को पाँच साल के लिए एक करार किया था।[107] इसके अनुसार कंपनी को जगतसिंहपुर जिले में स्टील प्लांट लगाने के लिए 1621 हेक्टेयर ज़मीन आवंटित की गई। इसमें से 1253 हेक्टेयर वन भूमि है। यह वन भूमि तीन पंचायतों (डिंकिया, नुआगाँव और गडकुजांग) के अधिकार क्षेत्र में आती है। यहाँ की 'वन भूमि' पर लोग बहुत सी नगदी फ़सलों मसलन, पान के पत्ते, काजू आदि की खेती करते रहे हैं। यहाँ पर कुछ लोग सौ साल पहले से रह रहे हैं और अधिकांश लोग कई दशकों से यहाँ बसे हुए हैं। इस क्षेत्र के बड़े हिस्से को 'वन भूमि' के रूप में वर्गीकृत किया गया है।

स्थानीय लोगों ने शुरू से ही इस परियोजना का ज़ोरदार तरीके से विरोध किया। इस प्रतिरोध को संगठित रूप देने के लिए अगस्त/सितम्बर 2005 में 'पोस्को प्रतिरोध संग्राम समिति' (पीपीएसएस) का गठन किया गया। जनवरी 2008 में वन अधिकार क़ानून की अधिसूचना जारी हुई। इसके बहुत सारे प्रावधान पोस्को प्रतिरोध में सहायक हुए।[108] बहरहाल, इस समय तक राज्य की दमनकारी शक्ति और पैसे के जोर से दो पंचायतों के लोगों को ज़मीन देने के लिए मजबूर कर दिया गया और पीपीएसएस का पूरा विरोध डिंकिया पंचायत तक सीमित हो गया। 23 मार्च 2008 को डिंकिया की ग्राम सभा ने एक प्रस्ताव पारित कर

[106] मेंहदीलाल यादव से बातचीत, 12 अप्रैल 2012, स्थान : दिल्ली.

[107] पोस्को और ओड़िशा सरकार के बीच तैयार हुए सहमति–पत्र (एमओयू) से जुड़े विविध पहलूओं की जानकारी के लिए देखें अशर 2007.

[108] मसलन, धारा 2(ओ), 3(1)(ए), 3(1)(सी), 4(5) और 5 गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007): 1–6.

वन अधिकार समिति का चुनाव किया। इस तरह, इसने क़ानून लागू करने की प्रक्रिया की शुरूआत कर दी। इस प्रस्ताव में ग्राम सभा के इस फैसले का उल्लेख था कि उसने इस क़ानून की धारा 5 के अंतर्गत आस–पास के क्षेत्रों के पर्यावरणीय विनाश रोकने का फ़ैसला किया है।

वन अधिकार क़ानून की समीक्षा के लिए गठित एन. सी. सक्सेना कमेटी की टीम ने जुलाई 2010 में यह कहा कि यहाँ इस क़ानून को लागू करने की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई है।[109] इसने पोस्को को दी गई 'हरी झंडी' या 'क्लीयरेन्स' को रोकने की सिफ़ारिश की। लेकिन इसका प्रभाव कम करने के लिए केन्द्र सरकार ने 25 जुलाई को मीना गुप्ता समिति का गठन किया। इसने 25 अक्टूबर 2011 को अपनी रिपोर्ट पेश की। इसके अध्यक्ष के अलावा बाकी सभी सदस्यों ने इस बात को स्वीकार किया कि जो तथ्य सक्सेना कमेटी के सामने आए थे, वे सही थे।[110] लेकिन इसके बावज़ूद 2 मई 2011 को *पर्यावरण और वन मंत्रालय* ने इसे मंजूरी दे दी। इसके काम पर लगी रोक हटा दी गई। लेकिन लोगों का प्रतिरोध जारी रहा। चूंकि इस परियोजना की मंजूरी देने में पर्यावरण संबंधी क़ानूनी प्रावधानों की उपेक्षा की गई थी, इसलिए 29 मार्च 2012 को *नैशनल ग्रीन ट्राइब्यूनल* ने इसकी मंजूरी पर रोक लगा दी।[111]

लेकिन ओड़िशा के मुख्यमंत्री इस योजना के प्रति पूरी तरह वचनबद्ध थे और प्रधनमंत्री मनमोहन सिंह ने दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति को यह आश्वासन दिया था कि यह परियोजना ज़रूर लागू होगी।[112] इसके बाद, ओड़िशा सरकार ने पोस्को कंपनी को 1,500 हेक्टेयर ज़मीन स्थानांतरित

---

[109] रोमा (2011बी); गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 104–5.

[110] रोमा (2011बी).

[111] 'ग्रीन ट्राइब्यूनल सस्पेंड्स क्लीयरेन्स टू पोस्को प्रोजेक्ट', 30 मार्च, 2012, *द हिंदू*, http://www.thehindubusinessline.com/todays-paper/tp-economy/article3263807.ece, देखने की तारीख: 2.8.2012.

[112] 'नो फ्लिप–फ्लॉप ऑन पोस्को: आनंद शर्मा' *द हिंदू*, 1 अप्रैल, http://www.thehindubusinessline.com/industry-and-economy/economy/article3269275.ece, देखने की तारीख 12.5.2012.

करने की प्रक्रिया शुरू कर दी। राज्य सरकार ने यह भी तय किया कि वह ज़ल्द ही पोस्को से किए समझौते का नवीनीकरण करेगी।[113] बहरहाल, इन सब उतार–चढ़ावों के बीच अभी भी पोस्को का प्रतिरोध कर रहे लोगों का संघर्ष जारी है। ओड़िशा सरकार ने इस क्षेत्र में भूमि–अधिग्रहण की शुरूआत कर दी। गोबिंदपुर गाँव में भी लोगों को लालच देकर और धमकाकर उनकी ज़मीन ली जा रही है।

बहरहाल, पोस्को के ख़िलाफ़ आंदोलन में वन अधिकार क़ानून एक अच्छे हथियार के रूप में सामने आया। इससे लोगों को अपना संघर्ष आगे बढ़ाने में मदद मिली। लेकिन वे पूरी तरह सिर्फ़ इस क़ानून पर ही निर्भर नहीं हैं। इसके नाक़ाम होने पर वे इससे आगे जाने के लिए भी तैयार हैं। पोस्को के संदर्भ में आने वाले उतार–चढ़ाव इस बात को साबित करते हैं कि कॉरपोरेट पूँजीवाद का दबाव बहुत ज़्यादा होने पर राज्य दूसरे कई तरह के जोड़–तोड़ अपनाने लगता है और कई मौकों पर संसद द्वारा बनाए गए क़ानून की भी अवहेलना की जाती है।

3. नियमगिरी संघर्ष

ओड़िशा सरकार ने अक्टूबर 2004 को 'स्टेरलाइट इंडस्ट्रीज इंडिया' की एक सहायक कंपनी 'वेदान्ता एलुमिनिया' के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इसके अनुसार, इस कंपनी को यह अधिकार मिला कि वह 'ओड़िशा माइनिंग कॉरपोरेशन' के साथ मिलकर नियमगिरी के पहाड़ों पर बॉक्साइट के खनन का काम कर सकती है।[114] इस समझौते में बहुत सारे पर्यावरणीय और मानवाधिकार के मुद्दों की उपेक्षा की गई। कोंध–डोंगरिया समुदाय के लोग नियमगिरी पहाड़ियों के मूल निवासी हैं। डोंगरिया समुदाय के लोग अपनी जीविका के लिए इस क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर रहे हैं। खेती, मछली पकड़ना और छोटा–मोटा

[113] 'ओड़िशा स्टार्ट ट्रॉंसफरिंग 1,500 एकड्स टू पोस्को फॉर प्लांट', *द हिंदू*, 20 जून, 2012 http://www.thehindubusinessline.com/industry-and-economy/government-and-policy/article3550868.ece, देखने की तारीख 2.7.2012.

[114] देखें, साहू (2008): 20; पैडेल और दास (2010).

शिकार इनकी जीविका का मुख्य साधन रहा है। इनका नियमगिरी जंगल के साथ एक सहजीवी संबंध रहा है।[115]

स्पष्टतः वेदांता कंपनी को इस क्षेत्र में खनन का अधिकार दिया जाना डोंगरिया लोगों की जीवनशैली, सांस्कृतिक और इकोलॉजिकल परिवेश के खिलाफ था।[116] चूंकि वेदांता कंपनी की परियोजना सीधे तौर पर उनके ज़मीन और जीविका के साधनों पर हमला कर रही थी, इसलिए डोंगरिया लोगों ने इसका तीखा प्रतिरोध किया। इन्होंने कालाहांडी के लांझीगढ़ क्षेत्र में स्थापित होने वाले 874 मिलियन की परियोजना का विरोध शुरू किया। वन अधिकार क़ानून की अधिसूचना जारी होने के बाद 2008 से नियमगिरी के संघर्ष को एक नई दिशा मिली। ओड़िशा सरकार ने वेदांता विरोध का सख्ती से दमन किया। संघर्ष कर रहे आदिवासियों ने दूसरे कई एक्टिविस्टों की मदद से सर्वोच्च न्यायालय में यह गुहार लगाई कि वह इस क्षेत्र के आदिवासियों के अधिकारों और नियमगिरी पहाड़ के वन संसाधनों की हिफाज़त करे।[117] 23 सितम्बर 2007 को सर्वोच्च न्यायालय ने *वेदांता कंपनी* को नियमगिरी की पहाड़ियों में खनन करने से रोक दिया।[118]

लेकिन यह आदिवासियों के लिए अस्थाई राहत ही थी। नवम्बर 2007 और अगस्त 2008 में सर्वोच्च न्यायालय ने ज़मीन के 'डायवर्ज़न' के संबंध में दो फ़ैसले दिए। इन दोनों ही फैसलों में इसने 'सस्टेनेबल विकास' की अपनी अवधारणा लागू की। इसने इस आधार पर परियोजना को 'क्लीयरेन्स' या मंजूरी दी की वेदांता अपने फ़ायदे का 5 प्रतिशत या 10 करोड़ रूपया इस क्षेत्र में सिंचाई, खेती आदि के विकास पर खर्च करेगा।[119] लेकिन स्थानीय लोग वन अधिकार क़ानून के प्रावधानों के आधार पर वेदांता का विरोध करते रहे। अगस्त 2009 में ओड़िशा सरकार ने वेदांता के लिए ज़मीन के 'डायवर्ज़न' के संबंध में आख़िरी मंजूरी माँगी। इस समय जयराम रमेश पर्यावरण और वन मंत्री बने थे।

---

[115] दासपटनायक (1984): 26.

[116] एनवायरमेंट प्रोटेक्शन ग्रुप (2007).

[117] साहू (2008): 21.

[118] वही : 21

[119] इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली (2010): 7–8.

उन्होंने *वेदांता* के मसले को पूरी तरह से समझने के लिए एन. सी. सक्सेना कमेटी का गठन किया।[120] इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में यह रेखांकित किया कि इस पूरी परियोजना में पेसा और वन अधिकार क़ानून सहित बहुत से दूसरे क़ानूनों का पूरी तरह उल्लंघन हुआ है। इस कमेटी की रिपोर्ट आने के बाद, स्थानीय लोगों के दबाव के कारण अगस्त 2010 में *पर्यावरण और वन मंत्रालय* ने वेदांता परियोजना को रद्द कर दिया।[121] लेकिन ओड़िशा खनन निगम ने इस फ़ैसले के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की। सर्वोच्च न्यायालय ने अपना फ़ैसला सुनाते हुए कहा कि वन अधिकार क़ानून के प्रावधानों के अनुसार खनन से प्रभावित होने वाले गाँवों और स्थानीय कोंध–डोंगरिया लोगों को यह तय करने का हक है कि इस क्षेत्र में खनन हो या न हो। अदालत ने खनन से प्रभावित होने वाली ग्राम सभाओं की बैठक बुलाकर फ़ैसला करने का आदेश दिया। राज्य सरकार ने मनमाने तरीके से सिर्फ़ 12 पल्ली सभाओं की बैठकें बुलाईं।[122] स्थानीय लोगों को लालच देने और डराने–धमकाने की भरपूर कोशिश की गई। लेकिन इन सभी ग्राम सभाओं ने वेदांता खनन परियोजना को खारिज कर दिया। अभी स्पष्ट नहीं है कि राज्य सरकार इस बारे में क्या रणनीति अपनाएगी।

लेकिन ऐसे कई उदाहरण भी हैं जहाँ लोग क़ानून के बारे में जागरूक न होने के कारण राज्य द्वारा थोपे गए 'विकास' मॉडल का विरोध नहीं कर पा रहे हैं। आंध्र प्रदेश की सरकार ने वेस्टर्न गोदावरी ज़िले के पोलावरम में एक बड़ी बाँध परियोजना प्रस्तावित की है।[123] इस परियोजना के कारण 276 गाँव डूब जाएँगे। इन गाँवों में मुख्य रूप से आदिवासी जनसंख्या रहती है। डूबने वाले इलाके में 100,000 एकड़ जंगल की ज़मीन भी शामिल है। डूबने वाले क्षेत्र में कोन्डारेड्डी आदिम जनजाति समूह के सदस्य भी रहते हैं। लेकिन यहाँ सामान्य

[120] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010ए).

[121] 'वेदांता माइन्स इलिगल, मस्ट बी शट डाउनः ग्रीन पैनल', *द टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, दिल्ली, 17 अगस्त 2010, पृ. 1.

[122] चौबे (2013बी).

[123] पोलावरम बाँध योजना से जुड़े विविध पहलूओं की जानकारी के लिए देखें, रेड्डी (2006): 1430–1434; राव (2006): 1437–39; माहेश्वरी (2007): 2385–2387; रामा मोहन (2006): 1434–1437.

तौर पर लोगों को सामुदायिक वन अधिकारों या आदिम जनजातियों के हैबिटेट अधिकारों के बारे में सही तरीके से जानकारी नहीं दी गई है। इस कारण, लोगों ने कोई दावा ही नहीं किया। दरअसल इस बाँध को मंजूरी मिलना वन अधिकार क़ानून का उल्लंघन है।[124]

उपरोक्त उदाहरणों से कुछ बातें स्पष्ट रूप से सामने आती हैं। पहला, बहुत सारी जगहों पर स्थानीय समुदायों ने इस क़ानून का उपयोग जंगल की ज़मीन और इसके संसाधनों पर अपने हक के संघर्ष में किया है। दूसरा, इसमें इन समुदायों की क़ानून के बारे में जागरूकता की भी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। मसलन, प्रेमनगर, पोस्को और नियमगिरी में लोगों ने इस क़ानून का उपयोग किया। दूसरी ओर, पोलावरम बाँध के संदर्भ में स्थानीय समुदाय इसका प्रभावकारी ढ़ंग से उपयोग नहीं कर पाए हैं। असल में, प्रेमनगर, पोस्को या नियमगिरी में स्थानीय संस्थाओं या एक्टिविस्टों की सक्रियता के कारण लोगों के बीच क़ानून के बारे में जागरूकता मौजूद रही है। लेकिन पोलावरम बाँध क्षेत्र में ऐसी जागरूकता नहीं है। तीसरा, प्रेमनगर, पोस्को प्रतिरोध या नियमगिरी– इन तीनों ही जगहों पर लोगों में जबर्दस्त गोलबंदी रही है। इन लोगों के लिए क़ानून कॉरपोरेट–राज्य गठजोड़ के खिलाफ़ संघर्ष में एक महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। लेकिन क़ानून इनके लिए एकमात्र साधन नहीं था/है। इनमें से किसी भी जगह पर लोग क़ानूनी हार हो जाने पर अपना संघर्ष छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे/हैं।

V
संघर्ष–स्थल के रूप में क़ानून : महिलाओं की राजनीतिक गोलबंदी

वन अधिकार क़ानून के बनने के दौरान इसकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह मानी गई थी कि इसमें यह प्रावधान है कि पति और पत्नी (स्पाउसेज) के नाम पर ज़मीन का पट्टा दिया जाएगा और अकेली महिलाओं को भी अधिकार दिया जाएगा। इस क़ानून का एक सकारात्मक नतीजा यह निकाला है कि इसने महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति

[124] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010बी): 104–5.

एक नई तरह की जागरूकता और विश्वास पैदा किया है।[125] लेकिन अधिकांश स्थानों पर पर्याप्त संगठन और जागरूकता न होने की स्थिति में क़ानून को समझने में महिलाओं को कई मुश्किलों का सामना करना पड़ा है। मसलन, सागरी रामदास ने अपने अध्ययन में यह दिखाया है कि अधिकांश महिलाओं को व्यक्तिगत और सामुदायिक अधिकारों के लिए अलग–अलग फॉर्म होने का मसला समझ में नहीं आया है। अपना घर उजाड़ दिए जाने के डर के कारण अधिकांश महिलाएँ यह मानती हैं कि व्यक्तिगत अधिकार ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। अधिकतर मामलों में इनके सामुदायिक अधिकारों के दावों को पूरी तरह से ख़ारिज किया जा रहा है।[126]

लेकिन इस क़ानून ने कई क्षेत्रों में महिलाओं को अपने अधिकारों के लिए संगठित करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस संदर्भ में *वूमेन फॉरेस्ट राइट्स ऐक्शन कमेटी* एक बहुत ही अच्छा उदाहरण है। मार्च 2011 में विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में काम करने वाली सौ से ज़्यादा आदिवासी और गैर–आदिवासी कार्यकर्त्ताओं ने झारंखड के दुमका में हुए सम्मेलन में इसके गठन का फैसला किया। इस सम्मेलन में झारखंड, छत्तीसगढ़, बिहार, उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड और अरूणाचल प्रदेश की महिला कार्यकर्त्ताओं ने हिस्सा लिया। विभिन्न राज्यों की इन महिला कार्यकर्त्ताओं ने इस क़ानून को महिलाओं के हक़ में बताया। सम्मेलन में यह स्वीकार किया गया कि यह पहला ऐसा क़ानून है जो वन संसाधनों पर महिलाओं को व्यक्तिगत और सामुदायिक– दोनों ही तरह के अधिकार देता है।[127] अपने राष्ट्रीय परिसंवाद के निमंत्रण में इस कमेटी ने इस बात पर जोर दिया कि जब तक वन समुदाय, वो भी महिलाएँ, वनाधिकार के लिए अपने सामुदायिक अधिकारों को हासिल नहीं करेंगी, तब तक ये महत्त्वूपर्ण संसाधन उनकी पहुँच से बाहर ही रहेंगे व वनों की सुरक्षा किसी भी सूरत में नहीं हो पाएगी। जंगल का पर्याय महिलाएँ

[125] रोमा (2012).

[126] रामदास (2009).

[127] प्रेस रीलीज, ''अनाउंसमेंट ऑफ़ पर्फारमेशन ऑफ़ 'वूमेन फॉरेस्ट राइट्स एक्शन कमेटी', वूमने फॉरेस्ट राइट्स एक्शन कमेटी, 19 मार्च 2011.

ही हैं, इसलिए वनों पर सामुदायिक रूप से दख़ल करने का अगला संघर्ष महिलाओं को ही लड़ना होगा।[128]

14–15 सितम्बर 2011 को हुए राष्ट्रीय परिसंवाद इस कमेटी ने महिलाओं को जंगल के सामुदायिक संसाधनों पर अधिकार देने के लिए कुछ प्रस्ताव पारित किए। इन प्रस्तावों में जंगलों में महिलाओं के हक़ को सुनिश्चित करने के साथ–ही–साथ वन विभाग के वर्चस्व को खत्म करने पर भी जोर दिया गया।[129] इस कमेटी ने 5–6 फरवरी 2012 को चेन्नई में एक सम्मेलन आयोजित किया। इसमें मुख्य रूप से दक्षिण के चार राज्यों में वनवासी महिलाओं के मुद्दों पर काम करने वाली दो सौ से ज़्यादा महिला प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें सामुदायिक वन अधिकारों को लागू करने के लिए दबाव बनाने का फैसला किया गया और वन विभाग की हिंसक कार्यवाहियों की आलोचना की गई। साथ ही, इस बात पर ज़ोर दिया गया कि जंगल के क्षेत्रों में रहने वाली महिलाओं में नेतृत्व की भावना का विकास करने की आवश्यकता है।[130]

दरअसल, वन अधिकार क़ानून ने कुछ ख़ास क्षेत्रों में महिलाओं में संगठन और संघर्ष के ज़ज्बे को बढ़ावा दिया है। ऐसा नहीं है कि सिर्फ़ इस क़ानून के कारण ऐसा हुआ और ऐसा भी नहीं है कि हर जगह आदिवासी महिलाओं में क्राँतिकारी जागरूकता आ गई है। लेकिन क़ानून और इसके अंतर्गत मिले अधिकारों ने इसमें एक उत्प्रेरक की भूमिका जरूर निभाई है। ख़ासतौर पर, *कैमूर क्षेत्र महिला मजूदर किसान समिति* और *महिला वनाधिकार ऐक्शन कमेटी* जैसे समूहों ने महिलाओं को न सिर्फ़ संगठित किया है, बल्कि उन्हें अपने अधिकारों के बारे में जागरूक भी किया है।

---

[128] निमंत्रण, महिला वनाधिकार ऐक्शन कमेटी द्वारा आयोजित 'महिला आजीविका व सामुदायिक अधिकार विषय पर राष्ट्रीय परिसंवाद', राँची झारखंड, 14–15 सितम्बर 2011.

[129] प्रेस रीलीज, 'महिला वनाधिकार ऐक्शन कमेटी द्वारा राँची में 14–15 सितम्बर 2011 को आयोजित दो दिवसीय कार्यक्रम राष्ट्रीय परिसंवाद में तमाम चर्चाओं के बाद तय किए गए प्रस्ताव', महिला वनाधिकार ऐक्शन कमेटी, 16 सितम्बर 2011; साथ ही देखें रोमा (2012).

[130] प्रेस रीलीज, 'वूमेन फ़ॉरेस्ट राइट्स ऐक्शन कमेटी मीटींग हेल्ड इन चेन्नई', 5–6 फरवरी 2012, वूमेन फ़ॉरेस्ट राइट्स एक्शन कमेटी, 7 फरवरी 2012.

VI
हाशिया समाज का उभार और 'ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद'

वन अधिकार क़ानून के पारित होने के बाद बहुत से विद्वानों और ऐक्टिविस्टों ने इस क़ानून की कुछ बुनियादी ख़ामियों को स्वीकार करने के बावज़ूद इसे आदिवासी समूहों के संघर्ष से सामने आए क़ानून की संज्ञा दी थी और इसका स्वागत किया था।[131] ऊपर के वर्णन से यह बात पूरी तरह स्पष्ट है कि इस क़ानून को सही तरह से लागू नहीं किया जा रहा है। अधिकांश स्थानों पर वन विभाग और कॉरपोरेट पूँजी के दबाव में राज्य इस क़ानून की उपेक्षा कर रहा है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सव्यसाची, मधु रामनाथ, क्रिताम्भरा हेब्बार, वेलुथायम सरवनन, श्रीशा नायडू आदि जैसे कई विद्वान और शोधकर्त्ता (कुछ तो क़ानून बनने के समय से ही) यह तर्क देते रहे हैं कि दरअसल, इस क़ानून के माध्यम से राज्य वन–निवासी समूहों पर अपना नियंत्रण क़ायम करना चाहता है और जंगल को कॉरपोरेट पूँजी के दोहन के लिए खोलना चाहता है।[132] क़ानून के लिए चले संघर्ष और इससे सामने आने वाले सकारात्मक पहलूओं को रेखांकित करने वाले विद्वानों ने भी क़ानून की कमियों और इसके लगातार उल्लंघन की तरफ ध्यान दिलाया है।[133]

बहरहाल, क़ानून बनने की प्रक्रिया और इसकी भूमिका के संदर्भ में भी क़ाफी गहरे वाद–विवाद रहे हैं। अपनी अध्ययन की सुविधा के लिए सरल रूप में हम क़ानूनों को दो भागों में बाँट सकते हैं। पहला, राज्य या संप्रभु द्वारा राज्य के मामलों का नियमन और नियंत्रण करने के लिए बहुत से क़ानून बनाए जाते हैं। बहुत से मार्क्सवादी चिंतक क़ानून की आलोचना करते हैं क्योंकि वे यह मानते हैं कि यह सामाजिक

[131] देखें, सुंदर (2011); सरीन और ओलिवर स्प्रिंगेट–बैगेंस्की (2010); सरीन (2010); बोस (2010; रेड्डी और अन्य (2011); भुल्लर (2008); गोपालकृष्णन (2010).

[132] देखें, हेब्बार (2006); सरवनन (2009); सव्यसाची (2010); (2011); रामनाथ (2008); नायडू (2011)

[133] मसलन, सुंदर (2011).

[134] मसलन, पोलंतास (1978)

असमानता और शोषण को छिपाने का काम करता है।[134] फूको का अनुसरण करते हुए जेम्स स्कॉट ने यह दिखाया है कि राष्ट्रीय भू–क्षेत्रों का सर्वे और मैपिंग तथा जनसंख्या की गणना और वर्गीकरण शक्ति के तकनीक रहे हैं। इन्होंने सामाजिक जीवन को ज़्यादा स्पष्ट (या लेज़िबल) बनाया है। इससे उनका तार्किक नियंत्रण आसान हो गया हैं।[135] सबॉल्टर्न विचारक भी क़ानून को आम लोगों को नियंत्रित करने का साधन मानते हैं। रणजीत गुहा ने इसीलिए इसे 'राज्य का दूत' कहा है।[136]

दूसरी श्रेणी में ऐसे क़ानूनों को रखा जा सकता है जिनकी माँग आम लोगों द्वारा अपने जीवन को बेहतर बनाने के लिए की जाती है। बहुत से विचारक यह मानते हैं कि क़ानून में लोगों को सशक्त बनाने की क्षमता होती है। सिर्फ़ उदारवादी विचारक ही नहीं बल्कि कई मार्क्सवादी विद्वान भी यह तर्क देते हैं।[137] फूको से ही प्रभावित ऐसे कई शोध हुए हैं जिनमें रोजमर्रा की जिंदगी में राज्य–सत्ता की तकनीक और गवर्नमैंटैलिटी की विवादपूर्ण प्रकृति पर ध्यान दिया गया है। इसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि नौकरशाही प्रक्रियावाद राज्य की शक्ति को बनाती है और उसे क़ायम रखती है, लेकिन यह प्रतिरोध का एक साधन भी उपलब्ध करा सकती है। यह एक ऐसा प्रमुख क्षेत्र है जहाँ हम 'हाशिये' पर राज्य और समाज की व्याख्या कर सकते हैं,[138] या 'शासितों की राजनीति'[139] का परीक्षण कर सकते हैं। मैं यह तर्क देना चाहता हूँ कि हम वन अधिकार क़ानून के बनने और लागू होने की प्रक्रिया को वन निवासी समूहों की राजनीतिक सक्रियता और संघर्ष के रूप में देख सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं यह मानता हूँ कि क़ानून की कोई नियंत्रणकारी भूमिका नहीं है। निश्चित रूप से ऐसा है। लेकिन इस क़ानून का अध्ययन दिखाता है कि हाशिये पर पड़े समूह इसे अपने उत्तम जीवन ('गुड लाइफ') की संकल्पना के लिए संघर्ष के साधन के रूप में भी प्रयोग कर सकते

[135] स्कॉट (1998).

[136] गुहा (1987); बख्शी (1992): 247–64.

[137] फ्रेजर (1999).

[138] दास और पुल (2004); उपध्याय (2009).

[139] चटर्जी (2004)

हैं। इस परिघटना की समझ के लिए मैं हाशिया समाज (या मार्जिनल सोसायटी) की संकल्पना पेश करना चाहता हूँ। इस संकल्पना में पार्थ चटर्जी के राजनीतिक समाज की संकल्पना की कुछ बुनियादी मान्यताओं को स्वीकार किया गया है, लेकिन वन–निवासी समूहों की राजनीति की व्याख्या के लिए मैंने इसमें कुछ बुनियादी बदलाव किए हैं।

मैने पार्थ चटर्जी के नागरिक समाज और राजनीतिक समाज के बारे में इस बुनियादी तर्क को स्वीकार किया है कि भारत में संवैधनिक रूप से नागरिकों को दिए गए अधिकारों का उपयोग सिर्फ़ कुछ लोग ही कर पाते हैं। ये लोग ही नागरिक समाज का निर्माण करते हैं। इसके अलावा, जनसंख्या का बड़ा समूह ऐसा है जो अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए संघर्ष करता है और अधिकांश मौकों पर उसकी गतिविधियाँ गैरक़ानूनी दायरे में चली जाती हैं।[140] बहरहाल, चटर्जी ने अपने बाद के लेखन में यह स्पष्ट किया कि सिर्फ़ वनोपजों पर निर्भर वन–निवासी समुदायों को राजनीतिक समाज के दायरे में शामिल नहीं किया जा सकता है। अर्थात् ये समूह एकजुट होकर अपने अधिकारों की माँग करने में समर्थ नहीं होते हैं।[141] इसके अलावा, उन्होंने राजनीतिक समाज की गतिविधि को राज्य से कुछ 'छूट' या फायदा हासिल करने की राजनीति तक सीमित कर दिया।[142]

मैं यह तर्क देना चाहता हूँ कि अधिकांश वन निवासी खेती और वनोपज– दोनों पर निर्भर हैं। इसके अलावा, सिर्फ़ वनोपज पर निर्भर रहने वाले समूह भी खुद को राजनीतिक रूप से गोलबंद करके अपने हक के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इन वन–निवासी समूहों की राजनीति की व्याख्या करने लिए मैंने 'हाशिया समाज' शब्द का प्रयोग किया है।

पहला, राजनीतिक समाज की तरह ही हाशिया समाज के लोगों की कई गतिविधियाँ भी 'गैरक़ानूनी' की श्रेणी में आ जाती हैं। मसलन,

[140] वही.

[141] चटर्जी (2008ए).

[142] चटर्जी (2008ए); (2008बी); (2010); (2011); (2012).

कई जगहों पर ये 'अतिक्रमक' के रूप में होते हैं या वन विभाग द्वारा जंगल में इनकी गतिविधियों को 'गैरक़ानूनी' करार दिया जाता है।

दूसरा, हाशिया समाज का नागरिक समाज के कुछ समूहों से नज़दीकी संबंध होता है। वन निवासी समूहों को राजनीतिक रूप से जागरूक बनाने में उन व्यक्तियों या संस्थाओं ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिन्हें अमूमन नागरिक समाज के खाते में दर्ज़ किया जा सकता है। मसलन, आदिवासी क्षेत्रों में काम करने वाली अधिकांश संस्थाओं में नेतृत्व के स्तर पर गैर–आदिवासियों की संख्या ज़्यादा है। पिछले दो दशकों में इसमें आदिवासियों की संख्या भी बढ़ी है। आदिवासी या गैर–आदिवासी– दोनों की ही पृष्ठभूमि ऐसी है कि इन्हें मध्य वर्ग और नागरिक समाज के सदस्य के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। वन अधिकार क़ानून के निर्माण से जुड़े संगठनों में ऐसे लोग काफ़ी तादाद में सक्रिय रहे हैं।[143]

तीसरा, हाशिया समाज की बुनियादी विशेषता क़ानून के प्रति इसकी जागरूकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इससे संबंधित सारे लोग क़ानून के विशेषज्ञ होते हैं। लेकिन वन विभाग और दूसरी संस्थाओं द्वारा क़ानून के नाम पर होने वाले दमन ने इन्हें क़ानून के महत्त्व के बारे में जागरूक किया है। इसने एक तरह से 'ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद'[144] – की स्थिति पैदा की है। इसी स्तर पर यह स्पष्ट हो जाता है कि माओवादी समूह इस हाशिया समाज का हिस्सा नहीं हो सकते हैं। यद्यपि वन निवासी आदिवासी समूहों में राजनीतिक जागरूकता लाने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, लेकिन ये क़ानून या क़ानून के लिए या क़ानून के माध्यम से संघर्ष को नकारात्मक नजरिए से देखते हैं। इसलिए ये हाशिया समाज का भाग नहीं हैं।

---

[143] देखें चौबे (2013ए); चौबे (सद्यप्रकाशित) : अध्याय 3.

[144] जूलिया एकर्ट ने शहरी भारत में गरीबों द्वारा क़ानून का अपने पक्ष में इस्तेमाल करने की परिघटना का विश्लेषण करेन के लिए 'ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद' (लीगलिज़म फ्रॉम बिलो) शब्दावली का प्रयोग किया है, देखें एकर्ट (2006); मेरा तर्क यह है कि मोटे तौर पर भारत के वन–निवासियों में इस प्रवृत्ति का उभार देखा जा सकता है।

चौथा, क़ानून के बारे में जागरूकता बढ़ने के कारण ही हाशिया समाज के सदस्यों अर्थात वन–निवासी समूहों ने बेहतर क़ानूनों (मसलन, पेसा और वन अधिकार क़ानून) के लिए संघर्ष किया।

पाँचवा, राज्य इन्हें उन समूहों के साथ जोड़ता है जो गवर्नमैंटैलिटी के दायरे से बाहर हैं। इस तरह का जुड़ाव इनकी माँगों के माने जाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका भी अदा करता है। मसलन, इस क़ानून के पारित होने में माओवादियों के बढ़ते प्रभाव के डर ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

छठा, राजनीतिक समाज की तरह ही राज्य गवर्नमैंटैलिटी पर हाशिया समाज के दावों पर 'लेन–देन' का रूख अपनाता है। अर्थात् राज्य इसकी गोलबंदी के आधार पर ही इसकी माँगों को स्वीकार करता है। दूसरे शब्दों में यह अपनी गोलबंदी द्वारा राज्य को अपने लिए कुछ निश्चित अधिकार देने या अपनी माँगों को स्वीकार करने पर मजबूर करता है। यदि इसकी गोलबंदी कम है, तो राज्य इसकी माँगों की उपेक्षा कर सकता है।

सातवाँ, अपनी राजनीति द्वारा हाशिया समाज गवर्नमैंटैलिटी के साथ दोहरा संबंध कायम करता है।[145] कई मौकों पर इसके सदस्य इस पर अपना दावा पेश करते हैं लेकिन एक व्यापक अर्थ में ये गवर्नमैंटैलिटी के ख़िलाफ़ संघर्ष भी करते हैं। राजनीतिक समाज की तरह ये सिर्फ़ तदर्थ किस्म की छूटों या सिर्फ़ अपनी जीविका के लिए चिंतित नहीं रहते हैं। इनकी चिंता अपने परिवेश के विविध पहलूओं से भी जुड़ी होती है। ये राज्य से सिर्फ़ अपने लिए कुछ छोटी–मोटी सुविधाओं की

[145] निवेदिता मेनन भी यह सुझाव देती हैं कि राजनीतिक समाज में गतिविधियों का लक्ष्य सरकारी फ़ायदा या कल्याण हासिल करना उतना ज़्यादा नहीं है, जितना कि यह खुद गवर्नमैंटैलिटी के ख़िलाफ़ है। वे मानती हैं कि राजनीतिक समाज की रैडिकल संभावना को व्यक्त करने के लिए यह दृष्टिकोण ज़्यादा अच्छा है; देखें मेनन (2010): 1–20; चटर्जी इस सुझाव को नकारते हैं। उनका मानना है कि 1990 के बाद के दौर में भारत में गवर्नमैंटैलिटी का प्रभाव बढ़ा है। इस संदर्भ में वे नंदीग्राम का उदाहरण देते हैं, जहाँ लोगों ने विद्रोह करने के बाद सरकारी शासन के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया; देखें चटर्जी (2011): 90–92; (2012): 318.

ही माँग नहीं करते हैं, बल्कि ये एक उत्तम जीवन की संकल्पना के साथ जीते हैं। जंगल, वन्य जीव, वनोपज और आस–पास रहने वाले समुदाय सभी इस संकल्पना के भाग होते हैं। इसे हासिल करने की इनकी हर कोशिश अधिकांश मौकों पर गवर्नमैंटैलिटी और राज्य सत्ता की बढ़ती जकड़ के खिलाफ जाती है। ऐसे में ये अपने संघर्ष से हासिल किए गए क़ानून का उपयोग अपने उत्तम जीवन की संकल्पना हासिल करने के लिए करते हैं। कई मरतबा ये क़ानून का सहारा राज्य के बढ़ते कदम का विरोध करने के लिए करते हैं। इस संदर्भ में ऊपर वर्णित पोस्को प्लांट विरोध, वेदांता विरोध आदि उदाहरण महत्त्वपूर्ण हैं। इन संघर्षों में स्थानीय समुदायों ने वन अधिकार क़ानून का उपयोग अपनी जल, जंगल और ज़मीन को बचाने के लिए किया। इसी तरह, संरक्षित क्षेत्रों में रहने वाले समुदायों (मसलन राजाजी नैशनल पार्क के वन–गूजर) के लिए जंगल उनके सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश का अभिन्न हिस्सा है। कई स्थानों पर क़ानून के माध्यम से वे अपने इस परिवेश की सुरक्षा या इस पर अपना कब्ज़ा कायम करने की कोशिश कर रहे हैं।

आठवाँ, हाशिया समाज के बारे में यह समझना भी आवश्यक है कि क़ानून इनके लिए अपने 'जल, जंगल और ज़मीन' के संघर्ष का औज़ार है। इस तरह के संघर्ष से जुड़े स्थानीय समुदायों के लोग ये मानते हैं कि क़ानून के रास्ते से हल न निकलने पर वे दूसरे माध्यमों से भी अपना संघर्ष जारी रखेंगे। अमूमन ये लोकतांत्रिक तरीके से संघर्ष करते हैं, लेकिन संघर्ष के दूसरे रास्तों का विकल्प पूरी तरह से नहीं छोड़ते हैं (देखें भाग V)।

स्पष्टतः वन अधिकार क़ानून को हाशिया समाज की राजनीति के नतीजे के तौर पर देखा जा सकता है। इस हाशिया समाज के उभार में नागरिक समाज के एक तबक़े की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जंगल में क़ानून के दमनकारी अनुभवों ने वन–निवासी समूहों को क़ानून के महत्व के बारे में जागरूक किया और इन समूहों ने अपने लिए बेहतर क़ानून की माँग की। ये समूह अब इन क़ानूनों का उपयोग अपनी स्वायत्त जीवनशैली क़ायम रखने के संघर्ष में कर रहे हैं।

VII
निष्कर्ष

वन अधिकार क़ानून को बहुत ही असंतोषजनक तरीके से लागू किया गया है। इसके प्रावधानों को लागू करने से ज़्यादा इनका उल्लंघन ही हुआ है। वन विभाग और संरक्षणवादियों ने अलग–अलग कारणों से इसकी मुख़ालफ़त की है। वन विभाग यह मानता है कि इससे उसकी शक्ति में कटौती होगी, इसलिए अधिकांश मामलों में उसने इस क़ानून की उपेक्षा करने की रणनीति अपनाई है। उसने व्यक्तिगत वन अधिकारों में काफ़ी अडंगे लगाए हैं और यह सुनिश्चित किया है कि स्थानीय समुदायों को सामुदायिक अधिकार न मिलें। संरक्षणवादियों ने वैज्ञानिक आधारों पर यह माँग की है कि संरक्षित क्षेत्रों को इस क़ानून के दायरे से बाहर रखा जाना चाहिए। लेकिन अभी तक इस क़ानून के 'क्रिटिकल वाइल्ड–लाइफ हैबिटेट' संबंधी प्रावधान को लागू नहीं किया गया है। यह भी एक रोचक तथ्य है कि इस क़ानून के बारे में भारत के सत्ता प्रतिष्ठान में अज़ीब तरह की दुविधा है। एक ओर राष्ट्रीय सलाहकार समिति की पहल पर क़ानून में ऐसे संशोधन किए गए हैं जिससे लोगों को जंगल के संसाधनों पर अपना हक़ जताने में सुविधा हो[146], वहीं दूसरी ओर प्रशासनिक आदेश द्वारा कई 'विकास' परियोजनाओं में ग्राम सभा की शक्तियों को सीमित करने का प्रयास किया गया है।[147] लेकिन इस बात में संदेह नहीं है कि इस क़ानून ने विविध समूहों में अपने हक़ के लिए संघर्ष की प्रवृत्ति को बढ़ाया है। पूरे देश में और सभी समूहों में एक समान रूप से ऐसी प्रवृत्ति सामने नहीं आई है। लेकिन फिर भी वन–निवासी स्थानीय समुदायों का एक बड़ा हिस्सा अपने हक़ के बारे में जागरूक हुआ है और वह इसके लिए संघर्ष कर रहा है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वन अधिकर क़ानून सिर्फ़ 'ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद' का नतीजा ही नहीं है, बल्कि इसने इसे और ज़्यादा आगे बढ़ाया है।

---

[146] देखें संभव (2012).

[147] फरवरी 2013 में एक आदेश ज़ारी कर पर्यावरण और वन मंत्रालय ने यह स्पष्ट किया कि विकास परियोजनाओं के बारे में ग्राम सभा की अनुमति लेने संबंधी उसके आदेश सड़क, बिजली और इस तरह के अन्य रेखीय परियोजनाओं पर लागू नहीं होते हैं। देखे, रमन और मधुसूदन (2013)

संदर्भ–ग्रंथ सूची

आदिवासी मूलवासी अस्तित्व रक्षा मंच. 2009. *अ स्वीट प्वाइजन : सागा ऑफ़ डिसप्लेसिंग ऐंड पॉपराईजिंग पीपुल इन झारखंड*, झारखंड, इंडिया. 2009.

अंथरा. 2010. *पैस्टोरलिस्ट कम्युनिटीज इन आंध्र प्रदेश ऐंड द एफ आर ए, 2006: अ नोट टू द एफ आर ए कमेटी.* लेखक : सागरी आर. रामदास, सन्यासी राव, राजम्मा, दिगम्बर, नरसिम्हूलु. हैदराबाद. अंथरा।

अर्नाल्ड, डेविड. 1982. 'रिबेलियस हिलमेन : द गुदेम–रंपा राइजिंग्स 1839–1924', संकलित रणजीत गुहा (सम्पा.), *सबल्टर्न स्टडीज I: राइटिंग्स इन द साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड सोसायटी*, दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

अशर, मानशी. 2007. *अ केस स्टडी ऑफ़ फूंग स्टील कंपनीज (पोस्को) प्रॉपोज्ड प्रोजेक्ट इन इंडिया*, नैशनल सेंटर फॉर एडवोकेसी स्टडीज, जून.

बहुगुणा, सुंदरलाल. 1984. *वर्किंग विद द चिपको मैसेज.* सिलयारा (टिहरी गढ़वाल) : नवजीवन आश्रम.

——. 1987. *द चिपको : अ पीपुल्स मूवमेंट इन हिमालयन हेरीटेज.* दिल्ली : ज्ञान पब्लिशिंग हाउस.

बाविस्कर, अमिता. 1995. *इन द बेली ऑफ़ द रीवर : ट्राइबल कांफ्लिक्ट ओवर डिवलेपमेंट इन नर्मदा वैली.* दिल्ली: ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

बख्शी, उपेन्द्र. 1992. '''' द स्टेट्स इमिसरी'' : द प्लेस ऑफ़ लॉ', संकलित, *सब्लटर्न स्टडीज : राइटिंग्स ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड सोसायटी.* वोल्यूम VII, नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 247–264.

भार्गव, प्रवीण और शेखर दत्तात्री. 2011. 'प्रोटेक्टिंग इंडियाज प्रोटेक्टेड एरियाज', एडीटोरियल्स, *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 46(17): 9.

भारत का संविधान. 2008, द्विभाषी संस्करण, चौथा संस्करण, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद.

भारत सरकार. 1989. *अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की रिपोर्ट, उनतीसवीं रिपोर्ट.* नई दिल्ली.

भाटिया, बेला. 2005. 'कंपीटिंग कन्सर्न्स', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 40(47): 4890–4893

भाटिया, बी., एन. सुंदर और वी. खाखा. 2005. 'शेड्यूल्ड ट्राइब्स बिल 2005', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 40(43): 4566 और 4652.

भुल्लर, लोवेलीन. 2008. 'द इंडियन फॉरेस्ट राइट्स एक्ट 2006: अ क्रिटिकल अप्राइज्ल', *लॉ,*

एनवायरमेंट ऐंड डवलपमेंट जर्नल, वोल्यूम 4, नंबर 1. वेब पता: http://www.lead-journal.org/content/08020.pdf डाउनलोड करने की तारीख 12 अप्रैल 2012.

बिजोय, सी. आर. 1993. 'इमर्जेन्स ऑफ़ द सब्मर्जड्: इंडिजेनस पीपुल एट यूएन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 28(26): 1357–1360.

——. 1999. 'आदिवासिज बिट्रेड : आदिवासी लैण्ड राइट्स इन केरला', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 34(22): 1329–1335.

बोस, इंद्रानील. 2010. 'हाउ डिड द इंडियन फॉरेस्ट राइट्स एक्ट 2006 इमर्जड्?', *डिस्कशन पेपर सीरीज 39*, आई.आई.पी.जी., वेब पता: www.ippg.org.uk.

कैम्पेन फॉर सर्वाइवल ऐंड डिग्निटी (कैम्पेन). 2004. *इंडेंजर्ड सिम्बायोसिस : इविक्सन्स ऐंड इंडियाज फॉरेस्ट कम्युनिटीज, रिपोर्ट ऑफ़ द जन सुनवाई, जुलाई 19–20, 2003.* नई दिल्ली.

——. 2011. *फैक्ट फाइंडिंग रिपोर्ट ऑफ़ सीएसडी ओड़िशा ऑन वीलेज दुरमिसी, गोबिंदपुर जी. पी. अंडर थाउमउल रामपुर ब्लॉक ऑफ़ कॉंलाहांडी डिस्ट्रिक*, अक्टूबर.

——. 2012. *एसरसन ऑफ़ कम्युनिटी राइट्स ओवर कैस्च्यु फॉरेस्ट बाई द ट्राइबल्स इन जगन्नाथप्रसाद, बुगुडा एंड खैलीकोट ब्लॉक्स ऑफ़ गंजम डिस्ट्रिक ऑफ़ ओड़िशा : अ रिपोर्ट ऑफ़ सीएसडी, ओडिशा*, मार्च.

कैम्पेन और अन्य. 2011. 'फेक स्टीरियोटाइप्स', लेटर्स, *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 46(18): 4

चटर्जी, पार्थ. 2004. *द पॉलिटिक्स ऑफ़ गवर्नड् : रिफ्लेक्शन्स ऑन द पॉलिटिक्स ऑफ़ मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड*. दिल्ली : परमानेंट ब्लैक.

——. 2008ए. 'डेमोक्रेसी ऐंड इकनॉमिक ट्रॉंसफॉरमेशन इन इंडिया', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 43(16): 53–62.

——. 2008बी. 'क्लासेज, कैपिटल ऐंड इंडियन डेमोक्रेसी', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 43(46): 89–93.

——. 2010. 'द स्टेट', संकलित, नीरजा गोपाल जयाल और प्रताप भानु मेहता (सम्पा.), *द ऑक्सफ़ोर्ड कॉम्पेनियन टू पॉलिटिक्स इन इंडिया*. नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

——. 2011. *लीनिएज्स ऑफ़ पॉलिटिकल सोसायटी : स्टडीज इन पोस्ट–कोलोनियल डेमोक्रेसीज*. रानीखेत : परमानेंट ब्लैक.

——. 2012. 'द डिबेट ओवर पॉलिटिकल सोसायटी', संकलित, अजय गुडुवर्थी (सम्पा.) : *रीफ्रेमिंग डेमोक्रेसी ऐंड एजेंसी इन इंडिया : इंटरोगेटिंग पॉलिटिकल सोसायटी*. लंदन : एंथेम प्रेस.

चौबे, कमल नयन. 2011. 'जंगल के दावेदार', *जनसत्ता*, दिल्ली, 24 मई (संपादकीय पृष्ठ), पृ. 6.

——. 2013ए. 'दो प्रगतिशील क़ानूनों की दास्तान : राज्य, जन–आंदोलन और प्रतिरोध', *प्रतिमान : समय, समाज, संस्कृति*, खण्ड 1(1), 149–177.

——. 2013बी. 'नियमगिरी के हकदार', *जनसत्ता*, दिल्ली, 2 अगस्त 2013 (संपादकीय पृष्ठ): 6.

——. सद्यप्रकाशित. *जंगल की हकदारी : राजनीति और संघर्ष*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

चौधरी, अशोक, रोमा और रजनीश गंभीर. 2009. *ज्वाइंट स्टडी बाई डब्ल्यू.ई.आई.एल.जी.ओ ऐंड विकल्प सोशल ऑर्गनाइजेशन ऑन 'द केस स्टडी ऑफ़ नैशनल फोरम ऑफ़ फॉरेस्ट पीपुल ऐंड फॉरेस्ट वर्कर्स*, सितम्बर.

कोऑर्डिनेशन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स ऑर्गनाइजेशन (सीडीआरओ). 2011. *लूट ऑफ़ द लैंड, लाइवलीहुड ऐंड लाइफ : अ ज्वाइंट फैक्ट फाइंडिंग इन द इंसिडेन्ट ऑफ़ क्राइम अगेनस्ट पीपुल ऑफ़ ओड़िशा*, अक्टूबर.

——. 2012. *आतंक के साये में आम झारखंडी : झारखंड के सुदूर गाँवों में जनसंघर्ष और सैन्य दमन*. मार्च.

काउन्सिल फॉर सोशल डवेलपमेंट (सीएसडी). 2010. *रिपोर्ट ऑन द नैशनल सेमिनार ऑन द शेड्युल्ड ट्राइब्स ऐंड ट्रेडिशनल फॉरेस्ट डेवेलर्स (रिकग्निशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स) एक्ट 2006: प्रॉब्लेम्स इनकाउंटर्ड ऐंड वेज टू ओवरकम देम*, अप्रैल 26–27.

डांग, हिमराज. 2005. 'द एंड ऑफ़ कंजरवेशन', *सेमिनार 552*, अगस्त. पृ. 50–54.

दासपटनायक, पी. एस. 1984. 'ऑनरशिप पैटर्न, लैण्ड सेटलमेंट ऐंड सर्वे ऐंड इट्स इम्पैक्ट ऑन डोंगरिया कोंधस ऑफ़ ओड़िशा', *आदिवासी जर्नल*, वोल्यूम XXIII (4).

दास, वीणा और डेबोराह पुल (सम्पा.). 2004. *एंथ्रोपोलॉजी इन द मारजिन्स ऑफ़ द स्टेट*. नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

डे, देबाश्री. 2011. 'ट्राइबल्स ऐंड ग्रीन गवर्नेंस : फॉरेस्ट राइट्स एक्ट 2006', अक्टूबर 16, http://sanhati.com/excerpted/4252/, देखने की तारीख : 29.06.2012.

दीक्षित, राजीव. 2011. 'दुधवा नेशनल पार्क में अब सुरक्षित नहीं हैं गैंडे', *जनसत्ता*, दिल्ली, 25 मई.

डोगरा, भरत. 2010. 'हक की लड़ाई में बेहाल वनवासी', *जनसत्ता रविवार*, दिल्ली, 30 मई, पृ. 1

एडिटोरियल्स 2007. 'फॉरेस्ट्स ऐंड ट्राइबल्स : रिस्टोरिंग राइट्स', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 42(1): 5.

——. 2010. 'नियमगिरी ट्रायम्फ', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 45(35): 7–8.

एकर्ट, जूलिया. 2006. 'फ्रॉम सबजेक्ट्स टू सिटीजन्स : लीगलिज्म फ्रॉम बिलो ऐंड द होमोजेनाइजेशन ऑफ़ लीगल स्फीयर', *जर्नल ऑफ़ लीगल प्लूरलिज्म*, नंबर 53–54: 45–75.

एनवायरमेंट प्रोटेक्शन ग्रुप. 2007. *अ ब्रीफ रिपोर्ट ऑन इकोलॉजिकल ऐंड बायोडायवर्सिटी इम्पॉर्टेन्स ऑफ़ नियमगिरी हिल्स ऐंड इम्पलिकेशन्स ऑफ़ बॉक्साइट माइनिंग*, ओड़िशा.

फूको, मिशेल. 1991. 'गवर्नमैंटैलिटी', संकलित, ग्राहम ब्रुचेल, कॉलिन गॉडर्न और पीटर मिलर (सम्पा.), *द फूको इफेक्ट : स्टडीज इन गवर्नमैंटैलिटी*, शिकागो : यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस.

फर्नांडिस, डब्ल्यू. और वी. परांजपे. (सम्पा). 1997. *रिहैबिलिटेशन पॉलिसी ऐंड द लॉ इन इंडिया : अ राइट टू लाइवलीहुड*. पुर्णे : आईएसआई.

फ्रेजर, नैंसी. 1999. 'द कोर्स ऑफ़ लॉ : मेटाफिजिकल ऑर पॉलिटिकल', संकलित, मैनफ्रेड बी. स्टेजर और नैंसी एस. लिंड (सम्पा.), *वायलेंस ऐंड इट्स अल्टरनेटिव्ज : ऐन इंटरडिसिप्लीनरी रीडर*, लंदन : मैकमिलन प्रेस लिमिटेड.

गाडगिल, माधव. 1985. 'टुवर्ड्स ऐन इकोलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 20 (45, 46/47): 1909–11; 1913; 1915; 1917–18.

——. 2007. 'इम्पावरिंग ग्राम–सभाज टू मैनेज बायोडायवर्सिटी : द साइंस एजेंडा', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 42(22): 2067–2071.

गाडगिल, माधव और रामचंद्र गुहा. 1992. *दिस फिस्सर्ड लैंड : एन इकोलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया*. नई दिल्ली: ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

——. 1995. *इकोलॉजी ऐंड इक्विटी. यूनाइटेड नेशन्स रिसर्च इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल डिवलेपमेंट*. (ऑक्सफ़ोर्ड इंडिया पेपरबैक्स 2004).

घिलदियाल, सुबोध और नितिन सेठी. 2007. 'सोनिया होल्ड अप इम्पलिमेंटेशन ऑफ़ फॉरेस्ट्स एक्ट', *द टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, दिल्ली, अक्टूबर 20.

गोयनका, देबी. 2005. 'अ नॉन–सोल्यूशन' *सेमिनार 552*: 35–36.

गोपालकृष्णन, शंकर. 2010. 'द फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट, द आदिवासिज, ऐंड द स्टेट', संकलित, *इंडिया : सोशल डिवलपमेंट रिपोर्ट 2010: द लैंड क्वेश्चन ऐंड द मार्जिनलाइज्ड*, काउन्सिल फॉर सोशल डवलपमेंट, नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड.

गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया. 1952. *रेजोल्यूशन ऑन द नेशनल फॉरेस्ट पॉलिसी.* शिमला : मैनेजर ऑफ़ पब्लिकेशन्स

——. 1972. *वाइल्ड लाइफ (प्रोटेक्शन) ऐक्ट.* नई दिल्ली: मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस.

——. 1980. *फॉरेस्ट (कंज़रवेशन) ऐक्ट.* नई दिल्ली : मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस.

——. 1988. *नैशनल फॉरेस्ट पॉलिसी.* नई दिल्ली: मिनिस्ट्री ऑफ़ एनवायरमेंट ऐंड फॉरेस्ट,

——. 1996. *द प्रोविजन्स ऑफ़ पंचायत्स (एक्सटेंशन टू द शेड्यूल्ड एरियाज) ऐक्ट,* 1996, नंबर 40 ऑफ़ 1996.

——. 2005ए. *द शेड्यूल्ड ट्राइब्स (रिकग्निशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स) बिल 2005.* मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफेयर्स. अप्रैल.

——. 2005बी. *द शेड्यूल्ड ट्राइब्स (रिकग्निशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स) बिल 2005. बिल नंबर 158 ऑफ़ 2005; एज इंट्रोड्यूज्ड इन लोकसभा).* मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफेयर्स. 13 दिसम्बर.

——. 2006. *रिपोर्ट ऑफ़ द नैशनल फॉरेस्ट कमीशन.* मिनिस्ट्री ऑफ़ एनवायरमेंट ऐंड फॉरेस्ट्स.

——. 2007. *शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड अदर ट्रेडिशनल फॉरेस्ट ड्वेलर्स (रिकग्निशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स) एक्ट 2006.* मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस. जनवरी.

——. 2008. *डिवेलपमेंट चैलेंजेस इन द एक्सट्रिमिस्ट अफेक्टेड एरियाज : रिपोर्ट ऑफ़ ऐन एक्सपर्ट ग्रुप टू प्लानिंग कमीशन.* नई दिल्ली, अप्रैल.

——. 2010ए. *रिपोर्ट ऑफ़ द फोर मेबर्स कमेटी फॉर इंवेस्टिगेशन इनटू द प्रपोजल सब्मिटेड बाई द ओड़िशा माइनिंग कंपनी फॉर बॉक्साइट माइनिंग इन नियमगिरी,* मिनिस्ट्री ऑफ़ एनवायरमेंट ऐंड फॉरेस्ट, नई दिल्ली, अगस्त 16.

——. 2010बी. *मंथन : रिपोर्ट ऑफ़ नैशनल कमेटी ऑन फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट, दिसम्बर 2010, अ ज्वाइंट कमेटी ऑफ़ मिनिस्ट्री ऑफ़ फॉरेस्ट ऐंड मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफेयर्स.* नई दिल्ली. दिसम्बर.

——. 2012ए. *इम्पलिमेंटेशन ऑफ़ द शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड अदर ट्रेडिशनल फॉरेस्ट डेवेलर्स (रिकोगिनिशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स) ऐक्ट, 2006– गाइडलाइन्स रिगार्डिंग, नंबर 23011/32/2010–एफआरए.* मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफेयर्स, 12 जुलाई.

——. 2012बी. *नोटिफिकेशन : अमेंडेड फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट रूल्स.* मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफेयर्स. 6 सितम्बर.

ग्रोव, रिचर्ड, विनिता दामोदरन और सतपाल सांगवान (सम्पा.). 1998. *द नेचर ऐंड द ओरियन्ट.* नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

गुडुवर्थी, अजय (सम्पा.). 2012. *रिफ्रेमिंग डेमोक्रेसी ऐंड एजेंसी इन इंडिया : इंटरोगेटिंग पॉलिटिकल सोसायटी*. लंदन : एंथम प्रेस.

गुहा, रामचंद्र. 1983 ए. 'फॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट ब्रिटिश इंडिया : ऐन हिस्टोरिकल एनैलिसिस, पार्ट I', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 18(44): 1882–96.

——. 1983बी. 'फॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट ब्रिटिश इंडिया : एन हिस्टोरिकल एनालिसिस, पार्ट II', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 18(45/46): 1940–1947.

——. 1988. 'आइडियोलॉजिकल ट्रेंड्स इन इंडियन एनवायरमेंटलिज्म', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 23(49): 2578–81.

——. 1989. *द अनक्विट वूड्स : इकोलॉजिकल चेंज ऐंड पेजन्ट रेसिसटेंस इन द हिमालया*. नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

——. 1990. 'एन अर्ली इनवायरमेंट डिबेट : द मेकिंग ऑफ़ द 1878 फॉरेस्ट ऐक्ट', *इंडियन इकनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, वोल्यूम XXVII.

——. 1994. 'फाइटिंग फॉर द फॉरेस्ट : स्टेट फॉरेस्ट्री ऐंड सोशल चेंज इन इंडिया', संकलित, डेलविन मेंडलसोहन और उपेन्द्र बख्शी (सम्पा.), *द राइट्स ऑफ़ सबोर्डिनेटेड पीपुल*, ऑक्सफ़ोर्ड : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

——. (सम्पा.). 1994. *सोशल इकोलॉजी*. नई दिल्ली: ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

——. 2007. 'आदिवासिज, नक्सलाइट्स ऐंड इंडियन डेमोक्रेसी', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 42(32): 3305–3312.

गुहा, रामचंद्र और गाडगिल एम. 1989. 'स्टेट फॉरेस्ट्री ऐंड सोशल कांफ्लिक्ट इन ब्रिटिश इंडिया', *पास्ट ऐंड प्रेजेंट*, 123: 141–177.

गुप्ता, स्मिता. 2012. 'इंफ्रा प्रोजेक्ट्स शुड नॉट फॉल फाउल ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स एक्ट : के. सी. देव', *द हिंदू*, अक्टूबर 11, पृ. 1.

हेब्बार, ऋताम्भरा. 2006. 'फॉरेस्ट बिल 2005 ऐंड ट्राइबल एरियाज : केस ऑफ़ झारखंड', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 41(48): 4952–4955.

इंडियन सोशल एक्शन फोरम (इंसाफ). 2009. *स्वतंत्र जन पंचाट : झारखंड में वर्तमान विकास, विस्थापन और दमन पर एक रिपोर्ट*. 7 और 8 फरवरी 2009, राँची, झारखंड भारत.

जयकृष्णन, पी. वी. 2005. 'इज देयर अ नीड फॉर दिस बिल?', *सेमिनार 552*: 23–29.

झा, एल. के. 1992. *इंडियाज फॉरेस्ट पोलिसिज*. नई दिल्ली : आशीष.

झा, सौरिष 2010. 'प्रॉसेस बिट्रेस द स्पिरिट : फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट इन बंगाल', *इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, 45(33): 24–27.

जेपीसी रिपोर्ट. 2006. *ज्वाइंट कमेटी ऑन द शेड्यूल्ड ट्राइब्स (रिकग्निशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स) बिल, 2005: रिपोर्ट ऑफ़ द ज्वाइंट कमेटी.* लोकसभा सेक्रेटेरियट. मई.

कल्पवृक्ष. 2007. 'द शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड अदर फॉरेस्ट ड्वेलर्स (रिकग्निशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स) ऐक्ट 2006: क्रिटिकल अमेंडमेंट्स, क्लीयर रूल्स ऐंड असेसमेंट पीरियड नीडेड, कल्पवृक्ष पोजिशन ऐंड रेकमेंडेशन्स', मार्च, http://www.kalpvriksa.org/fi/fi2. देखने की तारीख : 12.7.2007.

कारंत, के. उल्लास और प्रवीण भार्गव. 2005. 'डि–फ्रैगमेंटिंग नेचर', *सेमिनार 552*: 59–62.

किशन, ए. 2008. *द शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड अदर ट्रेडिशनल फॉरेस्ट ड्वेलर्स (रिकग्निशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स) ऐक्ट 2006.* हैदराबाद : एशिया लॉ हाउस.

कोठारी, आशीष. 2005. 'बगांल इन द जंगल', *सेमिनार 552*: 63–69.

——. 2006. 'मिस द ट्रीज फॉर द वुड', *द हिंदुस्तान टाइम्स*, दिल्ली, जून 2.

——. 2011. 'नॉट आउट ऑफ़ द वुड्स येट', *फ्रंटलाइन*, 28(5).

कोठारी, रजनी. 1984. 'द नॉन पार्टी पॉलिटिकल प्रॉसेस', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 19(5): 216–224.

कृष्णास्वामी, माधुरी. 2005. 'वन स्टेप फॉरवर्ड, टू स्टेप बैकवर्ड', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 40(47): 4899–4901.

कुलकर्णी, शरद. 1982. 'इनक्रोचमेंट ऑफ़ द फॉरेस्ट : गवर्नमेंट वर्सेज पीपुल', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 17(3): 55–59.

——. 1987. 'फॉरेस्ट लेजिस्लेशन ऐंड ट्राइबल्स : कॉमेंट्स ऑन फॉरेस्ट पॉलिसी रिज़ोल्यूशन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 22(50): 2143–2148.

कुमार, मधुरेश. 2011. 'फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट ऐंड पोलेमिक्स ऑफ़ कॉरेक्टिंग हिस्टोरिकल इनजस्टिसेज', संकलित, सव्यासाची बसु रे चौधुरी और ईशिता डे (सम्पा.), *सस्टेनेबिलिटी ऑफ़ राइट्स ऑफटर ग्लोबलाइजेशन*, नई दिल्ली: सेज.

लेले, शराचंद्रा, आशीष कोठारी, रोमा, अरूपज्योति सैकिया, रवि रेब्बाप्रगदा, वासवी राव, जारजुम ऐटे, (2011). 'मिसरीडिंग द इसुज ऐंड द लैण्डस्केप', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 46(22): 107–108.

मधुसूदन, एम.डी. 2005. 'ऑफ़ राइट्स ऐंड रॉग्स : वाइल्ड लाइफ कंज़रवेशन ऐंड द ट्राइबल बिल', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 40(47): 4893–4895.

माहेश्वरी, आर. उमा. 2007. पोलावरम : रिहैबिलिटेशन वाया फोर्स्ड कॉन्सेंस, *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 42(25): 2385–2387.

मंजुल, तरन्नुम. 2012. ''दुधवा डिक्लेयर्ड 'क्रिटिकल टाइगर हैबिटेट''', *एक्सप्रेस इंडिया*,

शनिवार, 20 अक्टूबर 2012, http://www.expressindia.com/latest-news/dudhwa-declared-critical-tiger-habitat/652631/, देखने की तारीख 20.10.2012.

मेनन, निवेदिता. 2004. *रिकवरिंग सबवरजन : फेमिनिस्ट पॉलिटिक्स बियोंड द लॉ.* अल्बाना ऐंड शिकागो : परमानेंट ब्लैक–यूनिवर्सिटी ऑफ़ इलनोइस प्रेस.

——. 2010. 'इंट्रोडक्शन', संकलित, *पार्थ चटर्जी : इम्पायर ऐंड नेशन, इशेंनशियल राइटिंग्स 1985–2005, विद ऐन इंट्रोडक्शन बाइ निवेदिता मेनन.* रानीखेत परमानेंट ब्लैक.

मोदी, अनुराग. 2008. 'आदिवासियों के आधे–अधूरे अधिकार', *जनसत्ता*, दिल्ली, 31 जनवरी, पृ. 6.

मोहन, वी. रामा. 2006. 'मेजर लॉस, माइनर गेन : पोलावरम प्रोजेक्ट इन एपी', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 41(7) : 604–606.

मुन्सटेर, उर्सुला और सुमा विष्णुदास. 2012. 'इन द जंगल ऑफ़ लॉ : आदिवासी राइट्स ऐंड इम्पलिमेंटेशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट इन केरला', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 47(19): 38–45.

मुंशी, इंद्रा. 2005. 'शेड्यूल्ड ट्राइब्स बिल, 2005', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 40(41): 4606–4609.

नायडू, श्रीशा. (2011). 'द पोटेंशियल ऑफ़ द फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट', 29 जनवरी, वेब पता: http://sanhati.com/excerpted/3197/, देखने की तारीख: 12. 5.2012.

नैशनल फोरम ऑफ़ फॉरेस्ट पीपुल ऐंड फॉरेस्ट वर्कर्स (एन.एफ.एफ.पी.एफ.डब्ल्यू.). 2012. *समरी रिपोर्ट, फोर्थ नैशनल कांफ्रेंस, 26–28 मई*, नूर आलम नगर, देहरादून, उत्तराखंड.

नवलखा, गौतम. 2008. 'क्रिटिकल एप्रीसिएशन ऑफ़ प्लानिंग कमीशन एक्सपर्ट ग्रुप रिपोर्ट ऑन एक्स्ट्रीमिजम', *सोशल चेंज : जर्नल ऑफ़ द काउन्सिल ऑफ़ सोशल डिवलपमेंट*, 38(3), सितम्बर.

——. 2012. *डेज ऐंड नाइट्स इन द हार्टलैण्ड ऑफ़ रिबेलियन.* दिल्ली : पेंगविन बुक्स

पैडेल, फेलिक्स और समरेन्द्र दास. 2010. *आउट ऑफ़ दिस अर्थ : ईस्ट इंडिया आदिवासिज ऐंड द एलुमिनियम कर्टेल.* दिल्ली; ओरियन्ट ब्लैकस्वॉन.

पंडिता, राहुल. 2011. *हैलो बस्तर : द अनटोल्ड स्टोरी ऑफ़ इंडियाज माओइस्ट मूवमेंट*, दिल्ली : ट्रांक्यूबर.

पाठक, अखिलेश्वर. 1994. *कांटेस्टेड डोमेन्स : द स्टेट, पीजेन्ट्स ऐंड फॉरेस्ट्स इन कांटेम्पररी इंडिया.* नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स.

——. 2002. *लॉ, स्ट्रेटजिस ऐंड आइडियोलॉजिस : लेजिस्लेटिंग फॉरेस्ट्स इन कोलोनियल इंडिया.* दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स (पीयूडीआर). 2010. *अधूरे वादे : हरदा में जंगल के ज़मीन के अधिकार के लिए संघर्ष*, दिल्ली, फरवरी.

पर्सपेक्टिव्स. 2012. 'फियर ऐंड फरी इन द फॉरेस्ट : स्ट्रगल ओवर कॉमन्स इन हरदा, मध्य प्रदेश', *कम्युनिटीज, कॉमन्स ऐंड कॉरपोरेशन्स*, जनवरी.

पोलंतास, निकोलास. 1978. *स्टेट, पावर ऐंड सोशलिजम* (अनुवाद : पारट्रिक केमिलर). लंदनः न्यू लेफ़्रट बुक्स.

प्रभु, प्रदीप. 2004. 'नैशनल कैम्पेन', संकलित, *इनडेण्जेर्ड सिम्बायोसिस : इविक्शन्स ऐंड इंडियाज फॉरेस्ट कम्युनिटीज, रिपोर्ट ऑफ़ द जन सुनवाई, जुलाई 19–20.* कैम्पेन फॉर सर्वाइवल ऐंड डिग्निटी.

——. 2005. 'द राइट टू लिव विद डिग्निटी', *सेमिनार 552*: 14–19.

प्रसाद, अर्चना. 2004. *एनवायरमेंटलिजम ऐंड द लेफ्टः कॉन्टेम्पररी डिबेट्स ऐंड फ्यूचर एजेंडास इन ट्राइबल एरियाज.* नई दिल्ली : लेफ्ट वर्ड बुक्स.

——. 2007. 'सर्वाइवल ऐट स्टेक', *फ्रँटलाइन*, 23(26), जनवरी 12.

प्रेस रिलीज. 2011. 'महिला वनाधिकार ऐक्शन कमेटी द्वारा राँची में 14–15 सितम्बर 2011 को आयोजित दो दिवसीय कार्यक्रम राष्ट्रीय परिसंवाद में तमाम चर्चाओं के बाद तय किए गए प्रस्ताव', महिला वनाधिकार ऐक्शन कमेटी, 16 सितम्बर.

प्रेस रिलीज. 2012. 'वूमेन फॉरेस्ट राइट्स ऐक्शन कमेटी मीटींग हेल्ड इन चेन्नई', 5–6 फरवरी 2012, *वूमेन फॉरेस्ट राइट्स ऐक्शन कमेटी*, 7 फरवरी.

रमन, टी. आर. शंकर और एम. डी. मधुसूदन (2013). 'डिवलपमेंट माइनस ग्रीन शूट्स', *द हिंदू*, दिल्ली, फरवरी 13, पृ. 11.

——. 2008. सर्वाईविंग द फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट : बिटविन साइला ऐंड चेरिबडीस, *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 43(9): 37–42.

रामानाथन, ऊषा. 2004. 'इलिगैलिटी ऐंड एक्सक्लूजन इन द लाइव्स ऑफ़ स्लम–डेवेलर्स' *आईईएलआरसी वर्किंग पेपर*

——. 2008. 'एमिनेंट डोमेन, प्रोटेस्ट ऐंड द डिस्कोर्स ऑफ़ रिहैबिलिटेशन', संकलित, एम. एम. सेमा और एच. एम. माथुर (सम्पा.), *कैन काम्पेनसेशन प्रीवेंट इम्प्रोविशमेंट*, नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

रामदास, सागरी आर. 2009. 'वूमेन, फॉरेस्टस्पेसेज ऐंड द लॉ : ट्रॉंसग्रेसिंग द बाउंड्रिज', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 44 (44): 65–73.

रंगराजन, महेश. 1996. *फेंसिंग द फॉरेस्ट : कंजरवेशन ऐंड इकोलॉजिकल चेंजेज इन इंडियाज सेन्ट्रल प्रोविन्सेज 1860–1914.* दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

——. 2003. 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ इकोलॉजी : द डिबेट ऑन वाइल्डलाइफ ऐंड पीपुल इन इंडिया, 1970–95', संकलित, वसंत कुमार सब्बरवाल और महेश रंगराजन (सम्पा.) *बैटल्स ओवर नेचरः साइंस ऐंड पॉलिटिक्स ऑफ़ कंज़रवेशन*, नई दिल्ली : परमानेंट ब्लैक.

——. 2005. 'फायर इन द फॉरेस्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 40 (47): 4888–4890.

राष्ट्रीय वन–जन श्रमजीवी मंच (एन.एफ.एफ.पी.एफ.डबल्यू). (2011). *वनाधिकार क़ानून को लागू किए जाने में अनियमितताएँ और वन विभाग द्वारा वनाश्रित समुदायों पर झूठे मुकदमे बेदखली और उत्पीड़न के मामलों पर जनसुनवाई.* विकल्प सामाजिक संगठन, सहारनपुर और, 2 अप्रैल सहकारिता भवन, लखनऊ उत्तर प्रदेश.

राव, पल्ला त्रिधरा. 2006. 'नेचर ऑफ़ ऑपोजिशन टू द पोलावरम प्रोजेक्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 41(15): 1437–1439.

रेड्डी, जी. गोपीनाथ, के. अनिल कुमार, पी. त्रिनाधर राव, ओलिवर स्प्रिंगेट–बैगिन्स्की, 2011. इशूज़ रिलेटेड टू इम्पलिमेंटशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट इन आंध्र प्रदेश', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 45(30): 73–81.

रेड्डी, एन. सुब्बा. 2006. 'डिवेलपमेंट थ्रू डिस्मेम्बरमेंट ऑफ़ द वीक : थ्रीट टू पोलावरम प्रोजेक्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 41(15): 430–434.

रोमा. 2010. 'क़ानून ने दिखाई राह', रविवारी, *जनसत्ता*, 26 सितम्बर.

रोमा. 2011ए. 'अब बाघ और इंसान साथ–साथ रहेंगे : सूरमा देश का पहला वनग्राम बना' *चौथी दुनिया*, दिल्ली, 2–8 मई, पृ. 1.

——. 2011बी. 'राष्ट्रीय वन संपदा की खुली लूट', *चौथी दुनिया*, दिल्ली, 20 जून–26 जून.

रोमा. 2012. 'वूमेन कंट्रोल ऑफ़ फॉरेस्ट थ्रू कम्युनिटी फॉरेस्ट राइट्स ऐंड बिल्डिंग इंस्टीट्युशन्स इन कॉन्टेक्स्ट ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट', अप्रैल 26. वेब पताः http://sanhati.com/excerpted/4988/ देखने की तारीख : 12.6.2012.

रोमा और रजनीश. 2009. 'बेदखल होते वन के वारिस'. *जनसत्ता रविवारी*, दिल्ली, 17 मई, पृ. 1–3.

——. 2011ए. 'सूरमा ने दिखाई राह', *अमर उजाला*, दिल्ली, 8 अप्रैल.

——. 2011बी. 'सूरमा देश का पहला वनग्राम बना : अब बाघ और इंसान साथ रहेंगे', *चौथी दुनिया*. 5 मई.

साहू, गीतोंजय 2008. 'माइनिंग इन द नियमगिरी हिल्स ऐंड ट्राइबल राइट्स', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 43(15): 19–21.

समर्थन. 2010. *रीयलाइजेशन ऑफ़ कम्युनिटी राइट्स अंडर फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट इन मध्य प्रदेश ऐंड छत्तीसगढ़ : चैलेंजेस ऐंड वेज़ फॉरवर्ड.* ड्राफ्ट रिपोर्ट, जुलाई. सब्मिटेड टू यूएनडीपी, भोपाल.

सरवनन, वेलुथायम. 2009. 'पॉलिटिकल इकोनॉमी ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट 2006: कांफ्लिक्ट बिटविन एनवायरमेंट ऐंड ट्राइबल डिवलपमेंट', *साउथ एशिया रिसर्च*, 29(3): 199–221.

संभव, कुमार. 2012. 'अमेंडेड फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट रूल्स नोटिफाइड : मोर पावर्स टू ग्राम सभा', तारीख 8 सितम्बर 2012, वेब पता: http://www.downtoearth.org.in/content/amended-forest-rights-act-rules-notified-more-powers-gram-sabha, देखने की तारीख: 25.10.2012.

सरीन मधु. 2005. 'शेड्यूल्ड ट्राइब्स बिल 2005: अ कॉमेंट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 40, (21): 2131–2134.

——. 2010. 'डेमोक्रेटाइजिंग इंडियाज फॉरेस्ट थ्रू टेनयर ऐंड गवर्नेंस रिफॉर्म्स', *सोशल एक्शन*, 60(2): 104–20.

सरीन, मधु और ओलिवर स्प्रिंगेट–ब्रैगिन्सकी. 2010, *इंडियाज फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट– द एनाटॉमी ऑफ़ अ नेससरी बट नॉट सफिशिऐंट इंस्टीट्युशनल रिफॉर्म*, डिस्कशन पेपर सिरीज नंबर फोर्टी फाइव, आईपीपीजी, यूनिवर्सिटी ऑफ़ मैनचेस्टर, जुलाई.

सत्यपालन, ज्योतिष. 2010. 'इम्पलिमेंटेशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट इन द वेस्टर्न घाट्स रीजन ऑफ़ केरला', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*. 45(30): 65–72.

सब्यासाची. 1998. *ट्राइबल फॉरेस्ट–डेवेलर्स ऐंड सेल्फ–रूल : द कॉन्स्टीट्युएन्ट असेम्बली डीबेट ऑन द फिफ्थ ऐंड सिक्थ शेड्यूल्स.* नई दिल्ली : इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट.

——. 2010. 'एफ आर ए 2006: इन व्हूज इंटरेस्ट?', *सोशल ऐक्शन : अ क्वाटर्ली रिव्यू ऑफ़ सोशल ट्रेंड्स*, 60(2): 91–105.

——. 2011. 'फॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट 2006: अंडरमाइनिंग द फाउंडेशनल पोजिशन ऑफ़ द फॉरेस्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 46(15): 55–61.

साउ, रंजीत. 2006ए. 'नॉन शेड्यूल्ड ट्राइब्स', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 41(33): 3550.

——. 2006बी. 'शेड्यूल्ड ट्राइब्स बिल : फॉर हूम ऐंड फॉर व्हाट?', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 41(48): 5009–5011.

सक्सेना, के. बी. 2008. 'डिवलपमेंपट, डिसप्लेसमेंट ऐंड रेसिस्टेंस : द लॉ ऐंड पॉलिसी ऑफ़ लैण्ड एक्वीजीशन', *सोशल चेंज : जर्नल ऑफ़ द काउन्सिल फॉर सोशल डिवेलपमेंट*, 38(3): 351–410.

सक्सेना, आर. 2010. इम्पलिमेंटेशन ऑफ़ शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड अंदर ट्रेडिशनल फॉरेस्ट ड्वेलर्स (रिकग्निशन ऑफ़ फॉरेस्ट राइट्स) ऐक्ट इन हिमाचल प्रदेश. सब्मिटेड टू डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ–इंडिया.

स्कॉट, जेम्स सी. 1998. *सीईंग लाइक अ स्टेट : हाउ सर्टेन स्कीम्स टू इम्प्रूव द ह्युमन कंडीशन्स हैव फेल्ड.* न्यू हैवेन ऐंड लंदन : येल यूनिवर्सिटी प्रेस.

शर्मा, डॉ. ब्रह्मदेव. 2001. *पाँचवी अनुसूची*, नई दिल्ली : सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट.

शर्मा, बी. डी. 1989. 'राष्ट्रपति को पत्र', संकलित, *अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की रिपोर्ट*, उनतीसवीं रिपोर्ट, 1987–89, भारत सरकार.

——. 2004. *द लिटिल लाइट्स इन टिनी मड–पॉट्स डिफाइ 50 इयर्स ऑफ़ एंटी–'पंचायत' राज*, सहयोग नई दिल्ली : पुस्तक कुटीर ट्रस्ट (प्रथम प्रकाशन 1998).

——. 2005. *आदिवासी क्षेत्र किस ओर? : संवैधानिक संशोधन भूरिया समिति रिपोर्ट और उसके आगे...* नई दिल्ली : सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट.

शिवा, वंदना और जयंती बंद्योपाध्याय. 1986. *चिपको : इंडियाज सिविलाइजेशनल रिस्पांसेज टू द फॉरेस्ट क्राइसिस.* नई दिल्ली : नटराज.

सिंह अमित प्रकाश. 2010. 'आने वाले दिनों में शायद ही बचें वन और वनवासी', *जनसत्ता*, दिल्ली, 9 अगस्त, पृ. 1.

सिंह, आशुतोष. 2011. 'आखिर आजाद हुआ जंगल के बीच बसा एक गाँव', *जनसत्ता*, दिल्ली, 9 अप्रैल, पृ. 1.

सिंह, छत्रपति. 1986. *कॉमन प्रॉपर्टी ऐंड कॉमन पोवर्टी : इंडियाज फॉरेस्ट्स, फॉरेस्ट ड्वेलर्स ऐंड द लॉ.* नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

शिवारामाकृष्णन, के. 1995. 'कोलोनियलिज्म ऐंड फॉरेस्ट्री इन इंडिया : इमैजिनिंग द पास्ट इन प्रेजेंट पॉलिटिक्स', *सोसायटी फॉर कॉम्पेरेटिव स्टडीज इन सोसायटी ऐंड हिस्ट्री*, वोल्यूम 37(1): 3–40.

सॉलिडैरिटी कंवेंशन फॉर ऐंटी माइनिंग ऐंड लैंड राइट्स स्ट्रगल इन नियमगिरी. 2009. *द नियमगिरी सागा : व्हूज डिवेलपमेंट ऐंड एट व्हाट कॉस्ट, डाक्यूमेंट्स ऑफ़ वेदान्तास नियमगिरी प्रोजेक्ट ऐंड पीपुल्स रेजिसटेंस*, नई दिल्ली, अक्टूबर 10.

सॉलिडैरिटी ग्रुप. 2010. *आयरन ऐंड स्टील : द पोस्को–इंडिया स्टोरी, माइनिंग जोन पीपुल्स सॉलिडैरिटी ग्रुप*, अक्टूबर 20.

सुब्बा रेड्डी, एन. 2006. 'डिवेलपमेंट थ्रू डिस्मेंबरमेंट ऑफ़ द वीक : थ्रीट ऑफ़ पोलावरम प्रोजेक्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 41(15): 1430–1434.

सुंदर, नंदिनी. 2005. 'द जंगल बुक : ट्राइबल फॉरेस्ट राइट्स रिकग्नाइज्ड फॉर फर्स्ट टाइम'. *द टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, नई दिल्ली, 3 मई, पृ. 32.

——. 2006. 'बस्तर, माओइजम ऐंड सलवा जुडूम', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 41(29): 3187–3192.

——. 2009. *लीगल ग्राउंड्स : नेचुरल रिर्सोसेज, आइडेंटिटी, ऐंड द लॉ इन झारखंड*. दिल्ली: ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

——. 2011. 'द रूल ऑफ़ लॉ ऐंड सिटीजनशिप इन सेन्ट्रल इंडिया : पोस्ट–कोलोनियल डाइलेमाज', *सिटीजनशिप स्टडीज*, 15(3–4): 419–432.

स्वतंत्र जन पंचाट 2009. *झारखंड में वर्तमान विकास, विस्थापन और दमन पर एक रिपोर्ट, इंडियन सोशल ऐक्शन फोरम*. 7 और 8 फरवरी, राँची, झारखंड, भारत.

द हिंदू. 2012. 'ग्रीन ट्राइब्यूनल सस्पेंड्स क्लीयरेन्स टू पोस्को प्रोजेक्ट', 30 मार्च, http://www.thehindubusinessline.com/todays-paper/tp-economy/article3263807.ece, देखने की तारीख 2.8.2012.

द हिंदू, 2012. 'नो फ्लिप–फ्लॉप ऑन पोस्को : आनंद शर्मा', 1 अप्रैल, http://www.thehindubusinessline.com/industry-and-economy/economy/article3269275.ece, देखने की तारीख 12.5.2012.

द हिंदू, (2012) 'ओड़िशा स्टार्ट ट्राँसफरिंग 1, 500 एकड्स टू पोस्को फॉर प्लांट', 20 जून, http://www.thehindubusinessline.com/industry-and-economy/government-and-policy/article3550868.ece देखने की तारीख, 2.7.2012

'टाइमलाइन ऑफ़ इवेन्ट्स रिलेटिंग टू फॉरेस्ट राइट्स इन पोस्को एरिया', http://www.forestrightsact.com/component/content/article/21/87-timeline-of-events-relating-to-forest-rights-in-posco-area , देखने की तारीख 12.5.2012.

त्रिपाठी, आशीष. 1911. 'ट्राइबल गेट जस्टिस : लैण्ड ऑनरशिप आफ्टर इंडिपेंडेंस', *द टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, 9 अप्रैल, वेब पता: http://epaper.timesofindia.com/Default/Client.asp?Daily=TOIL&showST=true&login=default&pub=TOI&Enter=true&Skin=TOINEW, देखने की तारीख 20 जून 2012.

उपाध्याय, कैरॉल. 2009. 'लॉ, कस्टम ऐंड आदिवासी आइडेंटिटी : पॉलिटिक्स ऑफ़ लैंड राइट्स इन छोटा–नागपुर', संकलित, नंदिनी सुंदर (सम्पा.), *लीगल ग्राउस, आइडेंटिटी, ऐंड द लॉ इन झारखंड*, दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

वन अधिकार क़ानून से संबंधित केसों की जानकारी: http://forestrightsact.com/Index.php/Court-Cases?Court, देखने की तारीख: 9. 07.2013.

विकल्प. 1994. *राजाजी नैशनल पार्क, कंजरवेशन, कंफ्लिक्ट ऐंड पीपुल्स स्ट्रगल*, आई आई पी ए वर्कशॉप पेपर. सितम्बर, दिल्ली.

2013. अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासी (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम 2006 के लागू होने की स्थिति (30 जून तक), जनजातीय मामलों का मंत्रालय, भारत सरकार, वेब पता: http://tribal.nic.in/writereaddata/mainlinkFile/File1450.pdf, देखने की तारीख 20.7.2013.